अथ नवमः सर्गः

गाङ्गरौनगढभूपतिपीपा
रञ्जने प्रववृते प्रकृतीनाम् ।
आगताः सकलकिल्बिषकाला
एकदाधिगृहमस्य च सन्तः ॥१॥

गाङ्गरौनगढके राजा श्रीपीपाजी प्रजाके अनुरञ्जनमें प्रवृत्त थे । उनके घर एकसमय सम्पूर्णपापोंके दूरकरनेवाले महात्मालोग आये ॥ १ ॥

आतिथेयमकरोद्बहु तेषां
धर्मकर्मनिपुणः स च भूपः ।
भक्तिभावकलितं नृपतिं तं
प्रेक्ष्य ते सहृदयाः समतुष्यन् ॥२॥

धर्मकर्ममें कुशल महाराजपीपाने उन सत्पुरुषोंका बहुत सत्कार किया । राजाको भक्तिभावयुक्त देखकर वह महात्मा सन्तुष्ट हुए ॥ २ ॥

ते प्रसन्नहृदया हरिभक्त-
स्तत्र भूपमुकुटेऽभिलषन्तः ।
उन्नतिं बहुतमां सुशुभाशी-
राशिभिश्च परिवेष मकार्षुः ॥३॥

प्रसन्न महात्माओंने पीपाजीकी परम उन्नतिकी इच्छा करते हुए सुन्दर आशीर्वादसे उनको आच्छादित कर दिया ॥ ३ ॥

साधुभद्रवचनैः शुभदायै-
र्भूपतेर्मतिरशुध्यदमुष्य ।

सत्यमेतदिह यद्धृदि साधो-
मूर्छति त्वरितमेव गुणश्रीः ॥४॥

महात्माओंके आशीर्वादसे पीपाजीकी बुद्धि निर्मल हो गयी। यह सत्य है कि महापुरुषोंके हृदयमें गुण-सम्पत्ति शीघ्र विस्तृत हो जाती है ॥ ४ ॥

जात एव सहसा हृदये त-
द्भूपतेर्हरिपदार्चनलोभः।
तत्वरे स हरिमाप्तुमुपेक्ष्य
श्रीसमां स्वरमणीं धरणिं च ॥ ५ ॥

श्रीपीपाजीके हृदयमें अकस्मात् भगवत्सेवाका लोभ उत्पन्न हो गया। वह लक्ष्मीसमान अपनी महारानी तथा राज्यकी अपेक्षा करके भगवत्प्राप्तिके लिये शीघ्रता करने लगे ॥ ५ ॥

वीक्ष्य दार्ढ्यमदसीयमिदानी-
मुच्चचार सुवचो नभसीयम्।
ईहसेऽवनिपते यदि तत्त्वं
श्रद्धया गिरमिमां शृणु तत्त्वम् ॥६॥

पीपाजीकी दृढ़ताको देखकर आकाशवाणी हुई कि हे राजन्! यदि आप तत्त्वकी इच्छा करते हों तो श्रद्धापूर्वक इस वचनको सुनें ॥ ६ ॥

गच्छ शीघ्रमतिहाय समस्तं
प्राज्यमेतदधिराज्यमुदारम्।
काशिवास्यखिलकामदरामा-
नन्दमद्वयगुरुं शरणं त्वम् ॥७॥

तुम इस समस्त विस्तृत सुन्दरराज्यको छोड़कर काशीवासी, सर्वकामद, अद्वितीयगुरु श्रीरामानन्दस्वामीजीकी शरणमें शीघ्र जाओ ॥ ७ ॥

शिष्यतां समधिगत्य यतेस्त्वं
रामसन्त्रमुपलभ्य च लभ्यम् ।
जीवनं सफलयाशु नरेन्द्र
प्राप्तकामनिचयो भवितासि ॥८॥

उन श्रीस्वामीजीके शिष्य होकर तथा श्रीराममन्त्रको प्राप्त करके जीवन सफल करो। तुम पूर्ण मनोरथ हो जाओगे ॥ ८ ॥

पापिवृत्तिविपरीतयिताऽसौ
राज्यभारमखिलं सचिवेषु ।
सन्निधाय निरगान्नगरात्स-
न्मौलिमौलिरधिरुह्य शुभाश्वम् ॥९॥

पापियोंकी वृत्तिको उलटानेवाले सज्जनशिरोमणि श्रीपीपाजी राज्यभार मन्त्रियोंको देकर घोड़ेपर चढ़कर नगरमेंसे निकले ॥ ९ ॥

भोजनेषु शयनेऽपि च गर्द्धा-
मास्थदात्मबलितां विदधानः ।
आतुरस्त्रिजगदार्यविलोके
प्राप भूपतिरसावधिकाशि ॥१०॥

आत्मबलवाले पीपाजीने भोजन और शयन का त्याग कर दिया और श्रीस्वामीजी महाराजके दर्शनकेलिये आतुर होकर काशीमें आये ॥ १० ॥

पञ्चगङ्गसविधे यतिरामा-
नन्दसुन्दरमठं समपश्यत् ।

योगिवर्यचरणौ स दिदृक्षुः
प्रापदेव सपदि प्रतिहारम् ॥११॥

वहाँ पञ्चगंगाके समीपमें स्वामीजीके सुन्दर मठको उन्होंने देखा। उनके दर्शनकी उत्कट इच्छासे शीघ्र द्वारपर पहुँच गये ॥ ११ ॥

द्वारपाल इति वाचमुवाच
श्रीक्षितीशमिह तिष्ठ महीप।
बोधयामि भवदागतिमारा-
च्छ्रीयतिक्षितिपतिं न चिरेण ॥१२॥

द्वारपालने राजासे कहा कि हे राजन्! आप यहाँ ही ठहरिये। मैं आपके आनेकी सूचना शीघ्र यतिराजको देता हूँ ॥ १२ ॥

संजगाद स उपेत्य यतीशं
मस्तकेञ्जलिमथो विरचय्य।
कश्चिदस्ति नरपाल इहागा-
द्दर्शनं भगवतोर्थयमानः ॥१३॥

द्वारपालने जाकर हाथ जोड़कर स्वामीजीसे कहा कि आपके दर्शनकी इच्छासे कोई राजा आये हैं ॥ १३ ॥

सौख्यभूवहमिदं निशमय्य
द्वारपालवचनं यतिरूचे।
तं प्रवेशय सपद्यथ तेन
श्रीमठाक्षरसदः स हि निन्ये ॥१४॥

द्वारपालके इस सुखद वचनको सुनकर यतिराजने कहा कि शीघ्र उनको ले आओ। द्वारपाल उन्हें श्रीमठके अक्षरसदनमें ले गया ॥१४॥

त्यक्तशर्मगृहरत्नविभूते-
र्यानमस्ति निकटे यतिमूर्ध्नः ।
इत्यवेक्ष्य हृदये क्षितिपालः
स्वात्मवस्तु निखिलं वितताऱ ॥१५॥

श्रीपीपाजीने यह विचार कर कि 'जिन्होंने सुख, गृह, रत्न, और ऐश्वर्यका त्याग कर दिया है, उन यति-श्रेष्ठ श्रीस्वामीजीके पास जाना है' अपने शरीरकी समस्त वस्तुओंको बांट दिया ॥ १५ ॥

नम्रवेषवपुषा नरपालः
सन्ददर्श यतिराजपदाब्जम् ।
रक्ष रक्ष मुनिपुङ्गव घोरे
सम्पतन्तमिह मां भवसिन्धौ ॥१६॥

सामान्यवेषवाले शरीर से उपलक्षित श्रीपीपाजीने श्रीस्वामीजीमहाराजके श्रीचरणोंका दर्शन किया। और बोले, हे मुनिश्रेष्ठ! इस घोर संसाररूप सागरमें पड़ते हुए मेरी रक्षा कीजिये ॥ १६ ॥

पापतापपरितापितमारा
ल्लोकशोकनदतीव्ररयेण ।
व्याकुलं यतिपते निजदासं
रक्ष मामयि गुरो विहताशम् ॥१७॥

हे यतिपति! पापाग्निसे जलाये हुए, जगत्के शोकरूपनदके तीव्रवेगसे व्याकुल तथा सब प्रकारसे हताश, मुझ स्वदासकी रक्षा कीजिये ॥१७॥

नीतिरीतिपरिपन्थिविचार-
माररात्रिचरराशिविषण्णः ।

केवलं तव पदाब्जरजोऽणुं
संश्रयामि भवभीतिनिवृत्त्यै ॥१८॥

नीतिरीतिविरोधिविचाररूप तथा कामरूपराक्षसोंके समूहसे दुःखित होकर संसारके भयकी निवृत्तिकेलिये केवल श्रीमान्के चरणकमलकी धूरिके कणका आश्रय लेता हूँ ॥ १८ ॥

कामदामविनिबद्धमनीषः
संभ्रमन्निह इतो भववन्याम् ।
बाधितो यमिपतेऽद्य तृषाहं
त्वत्पदाब्जरसमाशु पिबामि ॥१९॥

हे यतिराज ! कामके बन्धनसे बँधा हुआ, संसाररूप जंगलमें इधर-उधर भटकता हुआ, पिपासापीडित, मैं श्रीमान्के चरणकमलके रसका आस्वादन करूँ ॥ १९ ॥

लोभमोहमदमत्सरमाल-
भारिणं हतगतिं च शरण्य !
दीनहीनमयि दीनदयालो
रक्ष रक्ष यतिराज गुरो माम् ॥२०॥

हे शरण्य ! हे दीनदयालो ! हे यतिपते ! गुरो ! लोभमोहादिके भारको ढोनेवाले, मुझ अशरणको रक्षा कीजिये ॥ २० ॥

श्रीगुरो सरससारसपाद-
स्पृष्टरेणुकणिकातिविलुब्धम् ।
मामकं सपदि मानसमद्य-
स्थापयातिचपलं विनिगृह्य ॥२१॥

हे गुरो ! सरसकमलसमान श्रीचरणोंके रेणुकणकेलिये अत्यन्त लुब्ध और अतिचञ्चल मेरे मनको पकड़कर आज शीघ्र स्थिर कर दीजिये॥२१॥

अन्यदुत्सुकमिदं मम चेतः,
कापथाच्च विनिवर्त्य दयालो !
कल्पपादपपदे तव हृद्ये,
संबधान भवबन्धभिदायै ॥२२॥

हे दयालो ! अन्यत्र फँसे हुए मेरे चित्त को कुमार्गमेंसे हटाकर अपने सुन्दर कल्पवृक्षसमानस्वचरणमें लीजिये जिससे संसारका बन्धन टूट जाय ॥ २२ ॥

क्रूरकर्मकरणेन सुदूरं,
क्रूरतामुपगतौ मम हस्तौ ।
पादसेवनविधौ विनिबद्धौ,
तिष्ठतां चिरतरं महनीय ॥२३॥

हे कमलनयन ! क्रूरकर्मोंके करनेसे मेरे हाथ अत्यन्तक्रूर हो गये हैं । ये दोनों आपकी चरणसेवामें अनन्तकालतक बँधे रहें ॥ २३ ॥

नाथ दुर्गतमिदं मम चेतः,
कापथव्रजतिसेवनरक्तम् ।
तेन कोकनदपादयुगेन,
स्यात्त्वैव विनिपीडितमद्य ॥२४॥

हे नाथ ! यतः मेरा मन कुमार्गसेवी हो गया है, अतः नित्य श्रीमान्के कमलचरणोंसे ही कचराता रहे ॥ २४ ॥

दोषकोषमिदमद्य मदीय,
नेत्रयुग्ममयि मञ्जुलमूर्ते !

दण्डनेन लघु नाथ पिधेहि,
त्वं च तत्र हि कुरु प्रहरित्वम् ॥२५॥

हे प्रभो ! दोषके कोषरूप इन मेरी आँखोंको भी आप शीघ्र दण्ड करके बन्द कर दीजिये । और आप वहाँ पहरा दीजिये ॥ २५ ॥

मा ममाकलय पातकपुञ्जं,
पातकापनयकर्तरजस्रम् ।
केवलं निजदयापरिवाहं,
वीक्ष्य नाथ कुरुतान्निजदासम् ॥२६॥

हे पापोंके दूर करनेवाले नाथ ! मेरे पापपुञ्जकी गिनती न करें । केवल अपनी दयाके विस्तारको विचारकर निरन्तर मुझे अपना दास बना लें ॥ २६ ॥

संलुनीहि करुणाजलराशे,
पापपादपममुं मम नित्यम् ।
वर्द्धमानमिह धर्मतनुश्री,-
मानहानिमभिकामय मानम् ॥२७॥

हे कृपासागर ! धर्म, शरीर, श्री और मान इन सबका नाश करने वाले, नित्य बढ़ते हुए मेरे पापरूपवृक्षको श्रीमान् अच्छे प्रकारसे काट डालें ॥ २७ ॥

अर्पिते हि मम वाङ्मनसे ते,
पादयोः पतितमानसपाल ।
अर्हसि त्वमिह ते विनियोक्तुं,
रोचते तव यथा यतिराज ॥२८॥

हे पतितमनको पवित्र करनेवाले! मैंने इस जन्ममें अपनी वाणी और मन श्रीमान्के चरणोंमें समर्पित कर दिये हैं। अतः आप इच्छा-नुसार इनका विनियोग करिये ॥ २८ ॥

एवमार्तवचसार्थयमानः,
क्ष्मापतिस्तमधिभूमि निपातम् ।
निर्ममे स ममतादिविहीनो,
भास्वदत्यधिकभास्वरपादे ॥२९॥

ममतादि शून्य श्रीपीपाजी उपर्युक्त वचनोंसे प्रार्थना करते हुए सूर्यसे भी अधिक प्रकाशमानचरणों में साष्टाङ्गदण्डवत्प्रणाम करने लगे ॥२९॥

कः कुतस्त्वमिति भूपमपृच्छ-
त्सर्ववित्स जगतीत्रयपूज्यः ।
गाङ्गरौनगढभूभृदशेषं,
सादरं स यतये विववार ॥३०॥

श्रीस्वामीजीने पूछा कि तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? श्रीपीपा-जीने स्वामीजीके आगे सब वृत्तान्त निवेदन किया ॥ ३० ॥

सर्ववृत्तमधिगम्य यतीशोऽ
तिष्ठिपत्तमवनीन्द्रमुदारः ।
पञ्चषाणि स दिनानि मुमुक्षुं,
श्रीमठे महितकीर्तिसुधाब्धिः ॥३१॥

स्वामीजीने सर्ववृत्तान्त जानकर मुमुक्षु पीपाजीको पांच-छः दिन तक श्रीमठमें ही रखा ॥ ३१ ॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रतुलसीमणिमाले,
त्यादिभिर्यतिपतिः क्षितिपालम् ।

संस्कृतं विहितवानथ गन्तुं,
गाङ्गरौनगढमादिशदार्यः ॥३२॥

श्रीस्वामीजीने ऊर्ध्वपुण्ड्र और तुलसीमाला इत्यादि पञ्चसंस्कारोंसे पीपाजीको संस्कृत करके गांगरौनगढ़ जानेकी आज्ञा दी ॥ ३२ ॥

तत्र साधुजनसेवनपुण्यै-
र्वर्द्धय त्वमनिशं निजकीर्तिम् ।
तेन पुण्यभवनं तव राज-
न्वत्सरेण सुतरां पवितास्मि ॥३३॥

हे राजन ! तुम अपने नगरमें साधुपुरुषोंकी सेवाद्वारा सर्वदा अपने यशको बढ़ाओ ! उससे मैं तुम्हारे पवित्र घरमें एक वर्षमें आऊँगा ॥३३॥

वैष्णवीं समधिगम्य स दीक्षां,
पूर्वतोऽप्यधिकमेव बभासे ।
जातरूपमनलं समवाप्य,
शोभतेऽधिकमयं हि निसर्गः ॥३४॥

श्रीपीपाजी वैष्णवदीक्षा प्राप्त करके पहलेसे भी अधिक प्रकाशमान हुए; क्योंकि सुवर्ण अग्नि पाकर अधिक चमकता है, यह स्वभाव ही है ॥ ३४ ॥

यद्यपि प्रथममस्य यियासा,
नोदियाय भवनस्य तथापि ।
नादरेतरदिहार्हति पूज्या,
पूज्यशिष्टिरिति स प्रससाद ॥३५॥

यद्यपि श्रीपीपाजीकी घर जानेकी इच्छा नहीं थी, तथापि गुरुकी आज्ञा का तिरस्कार नहीं करना चाहिए, ऐसा विचारकर वह प्रसन्न हुए ॥३५॥

पथ्यमर्थदमसौ वचनं त-
द्गौरवेण शिरसा दधदीशः ।
आशिषां यतिपतेः परिवारै
रक्षितः स्वनगरं प्रतियातः ॥३६॥

श्री स्वामीजीके पथ्य और लाभप्रद उस वचनको आज्ञापूर्वक शिरसे धारण करते हुए पीपाजी स्वामीजीके आशीर्वादोंसे सुरक्षित बनकर अपने नगरके लिये चले ॥ ३६ ॥

अन्येऽप्यासन् येऽवशिष्टा विशिष्टा,
नारे देहे सूरयः सन्निविष्टाः ।
सर्वेऽप्येत्य श्रद्धया तत्र काश्यां,
प्राप्तास्तस्य श्रेयसे शिष्यभावम् ॥३७॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम–पण्डितराज–परमहंसपरिव्राजकस्वा-
मिश्रीभगवदाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्द
दिग्विजये नवमः सर्गः

अन्य श्रीसुरसुरानन्दजी इत्यादि महापुरुष भी, जो मनुष्यदेह में अवतार ले चुके थे, काशीमें ही आकर स्वकल्याणार्थं आचार्यश्रीरामानन्दस्वामीजीमहाराजके शिष्य हो गये ॥ ३७ ॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम–पण्डितराज–परमहंसपरिव्राजकस्वामि
श्रीभगवदाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये
वैजयन्त्याख्यव्याख्यायां नवमः सर्गः ।

अथ दशमः सर्गः

अथैत्य भूपो नगरीं स आत्मनः,
सदागतानां हरिसेविनां सताम् ।
निषेवणेनात्मयशोदिवाकरै-
र्दिशो दशाप्यस्ततमीर्व्यधाच्छनैः ॥१॥

श्रीपीपाजी अपनी राजधानीमें आकर, जो महापुरुष उनके यहाँ आते थे, उनकी सेवा करने लगे। इससे उन्होंने दशों दिशाओंमें स्वयशोरूपसूर्यसे रात्रिका नाश कर दिया ॥ १ ॥

यतीन्द्रपादाब्जवियोगवह्निना
ज्वलन् कथञ्चित्स निनाय वत्सरम् ।
नरेन्द्रपीपा परमागतं न तं,
जगद्गुरुं वीक्ष्य तताप मानसे ॥ २ ॥

श्रीस्वामीजीके वियोगानलसे तपते हुए श्रीपीपाजीने किसी प्रकारसे एक वर्ष समाप्त किया। परन्तु जब देखा कि आचार्यचरण नहीं पधारे तो उनके मनमें संताप हुआ ॥ २ ॥

स्वयं विदित्वा पृथ्वीभुजोद्भुतं,
महानुभावं च सतां समर्चनम् ।
गुरौ हरौ भक्तिमथापि पावनीं,
तुतोष सम्राड्यमिनां विदांवरः ॥ ३ ॥

श्रीस्वामीजी पीपाजीका महान् तेज, सज्जनोंकी सेवा, हरि और गुरुमें शुद्धभक्तिको स्वयं जानकर प्रसन्न हुए ॥ ३ ॥

प्रदाय चादाय नरेन्द्रपत्रकं
स वाचयामास तदेवमादिकम् ॥ ७ ॥

शुभाभिलाषी यतिराज श्रीस्वामीजीने 'कल्याण हो' ऐसा आशीर्वाद देकर पीपाजीके पत्रको लेकर इस प्रकार से बाँचा ॥ ७ ॥

शरद्व्यतीता कथमप्ययये गुरो
न जातमद्यापि तवाङ्घ्रिकञ्जयोः ।
मनोरमं दर्शनमक्षिपूतकृ-
ज्जनः कुतो विस्मृतिमापितस्त्वया ॥८॥

हे गुरो ! किसी प्रकारसे एक वर्ष बीत गया परन्तु श्रीमान्‌का दर्शन नहीं हुआ । किस कारणसे इस जनको आपने विस्मृत कर दिया ॥ ८ ॥

मनोभुवि त्वच्चरणाब्जदर्शना-
भिलाषशाखी शरदोऽहरम्बुभिः ।
अनेककामैरुदितः प्रशीकितः,
सुमागमं नो लभतेऽधुनापि ही ॥ ९ ॥

आश्चर्य है कि मनोरूपभूतलपर उगा हुआ, अनेक कामनाओं से संवत्सरके ३६० दिवसरूपजलसे सींचा गया हुआ, श्रीमान्‌के चरणकमलका दर्शनाभिलाषरूपवृक्ष, अभी भी आपके शुभागमनरूप पुष्पको प्राप्त नहीं होता है ॥ ९ ॥

कियच्चिरं नाथ तवागमाशया,
विपित्समानान्मदसूनमूनहम् ।
प्रबोधयन्नारुणधानि भावना,
विभिन्नजातीरिति मे समादिश ॥१०॥

समस्मरद्योगिवरोऽवधिं स्वयं,
प्रतिश्रुतं पूर्णमितो दयानिधिः ।
नृपान्तिकेऽसौ गमनं विचारय-
न्प्रभुः प्रतीहारमवैक्षतागतम् ॥ ४ ॥

श्रीस्वामीजी महाराजने स्वयं की हुई पूर्वप्रतिज्ञाका स्मरण किया । यहाँसे अवश्य गाङ्गरौनगढ जाना है ऐसा विचारते हुए उन्होंने सामने आये हुए द्वारपाल को देखा ॥ ४ ॥

नतेन मूर्ध्ना प्रणिपत्य दर्शको,
निवेदयामास यतीश्वरं प्रति ।
नृपस्य पीपेत्यभिधस्य तत्क्षणः
समागतं वैवधिकं दिदृक्षया ॥ ५ ॥

द्वारपालने मस्तक झुकाकर कहाकि श्रीचरणोंके दर्शनकेलिये श्रीपीपाजीका दूत आया है ॥ ५ ॥

प्रवेशयेत्याज्ञपितः स दर्शकः,
प्रवेशयामास नरेन्द्रपूरुषम् ।
प्रणम्य दत्तं यमिने नतेन त-
द्दलं च तेन प्रहितं क्षमाभुजा ॥ ६ ॥

ले आओ, ऐसी श्रीस्वामीजीकी आज्ञा पाकर द्वारपाल दूतको ले आया । उसने मस्तक झुकाकर, प्रणाम करके, राजाजीके भेजे हुए पत्रको स्वामीजीको दिया ॥ ६ ॥

शुभाभिलाषी यमिनां पतिर्मुदा,
शुभानि भूयादिति राशिमाशिषाम् ।

हे नाथ ! नष्ट होनेकी इच्छावाले इन मेरे प्राणोंको समझाता हुआ नाना प्रकारके भावनाओंको आपके दर्शनकी आशासे कब तक मैं रोकूँ, यह आप बताइये ॥ १० ॥

त्वमत्र सर्वज्ञ सपद्यबोधिता,
महासमुद्रेऽद्य निमज्जतो मम ।
गतस्य दीनस्य च कान्दिशीकतां,
कृपामय स्तात्तरणिस्तरस्वती ॥११॥

हे सर्वज्ञ ! हे करुणामय ! अज्ञानरूपमहासागरमें डूबते हुए, भयभीत मेरे जैसे दीनकी आप बलवती नौका बन जाइये ॥ ११ ॥

सुखाय नालं मम राज्यवैभवं,
प्रजाजनो नापि सखाय ईश्वर ।
पतिव्रता चेयमपीह भार्यका,
न तोषयत्यद्य मदीयमान्तरम् ॥१२॥

हे ईश्वर ! इस जगत्में राज्य, सम्पत्ति, प्रजावर्ग तथा मित्र भी मुझे सुखी करनेमें समर्थ नहीं हैं । मेरी पतिव्रता भार्या भी आज मुझे सन्तुष्ट नहीं करती है ॥ १२ ॥

त्वदीयपङ्केरुहसुन्दरच्छटा,
लसत्पदारामविहारमिच्छतः ।
सुखाकराराम इहास्ति मे मनः
सुखाय कामं न कथंचिदीश्वर ॥१३॥

हे यतीन्द्र ! कमलकी सुषमाके समान शोभित आपके चरणरूप उद्यानमें विहार करने की इच्छावाले मुझे, सुखोंका आकर मेरा उद्यान, कुछ भी सुख नहीं देता है ॥ १३ ॥

अतो विधायातिकृपां कृपानिधे
तथानुसन्धाय भवद्वचोऽधुना ।
विधाय पादार्पणपत्र मे गृहे
भवाभ्यमित्र्यो मम दीनवत्सल ॥१४॥

अतः हे कृपानिधे ! परमकृपा करके अपनी प्रतिज्ञाका स्मरणकरके मेरे घर में पधारकर मेरे कामक्रोधादि शत्रुओं का नाश करिये ॥ १४ ॥

इति प्रपठ्यावनिपालपत्रकं
तुतोष तद्भक्तिभरप्रपञ्चितम् ।
स गन्तुमैच्छद्यतिभूपतिस्तदा
भुवं नरेन्द्रस्य कृपापरायणः ॥१५॥

पीपाजीका भक्तिपूर्ण पत्र पढ़कर श्रीस्वामीजीने प्रसन्न होकर उनके यहाँ जानेकी इच्छा की ॥ १५ ॥

ततः प्रतस्थे यमिनां पतिस्ततः
समस्तशिष्यैःसह सद्गुणान्वितैः ।
पुराय पीपानृपतेर्गुणस्पृशो
यमादिभिः सार्द्धमलं यथा शमः ॥१६॥

तदनन्तर श्रीस्वामीजीमहाराज शिष्योंसहित श्रीपीपाजीके नगरके प्रति ऐसे प्रस्थित हुए जैसे यमनियमादिके साथ शम, जितेन्द्रिय आत्माके प्रति जाता हो ॥ १६ ॥

दिनद्वयानन्तरमध्वनि व्रज-
न्नपश्यदह्नाय मुनीश्वरः पुरः ।
स्वमाययास्थ्नां निचयं नभः स्थितं
निपातयन्तं कमपीव योगिनम् ॥१७॥

मार्गमें जाते हुए श्रीस्वामीजीमहाराजने दो दिवसके पश्चात् सामने आकाशमें रहकर हड्डी वर्षाते हुए योगीके समान किसी पुरुषको देखा ॥१७॥

विलोक्य तत्तस्य कुयोगिनो मुनि-
श्चरित्रमाध्यायदसौ क्षणद्वयम् ।
ततो महाश्चर्यमभूदनन्तरं
पुरो गुरूणां गुरुताऽवरस्य का ॥१८॥

श्रीस्वामीजीने उस धूर्तयोगीके इस चरित्रको देखकर दो क्षणतक ध्यान किया। पश्चात् समीप में ही एक बड़ा आश्चर्य हुआ। भला गुरुओंके सामने नीचोंकी क्या गुरुता चल सकती है ? ॥ १८ ॥

समुद्गकाकारमभूदनूनकं
मुनेः प्रभावादचिरेण कैकसम् ।
तदन्तरं प्राविशदात्मना महा-
खलः स योगी शमनेरितः पुनः॥१९॥

श्रीस्वामीजीके प्रभावसे वह हड्डियोंका समूह एक पेटारीके समान बन गया। पश्चात् कालसे प्रेरित होकर वह महादुष्टयोगी स्वयं उस पेटारीके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ १९ ॥

ततः परं तत्र स सम्पुटः क्षणा-
दवाप मुद्रां स्वत एव योगभृत् ।
ततो नभस्युत्पतितो भ्रमन्नित-
स्ततोऽपतद्भूमितले मृतश्च सः ॥२०॥

जब वह योगी उस पिटारेमें घुसगया तब वह अपने आपही बन्द हो गया। पश्चात् वह पिटारा आकाशमें उड़ा और इधर उधर घूमता हुआ पृथ्वीपर आकर पड़ा जिससे वह धूर्त मर गया ॥ २० ॥

ततो व्रजन् प्रापदयं मुनीश्वरः
क्रमेण पीपानृपतेः पुरीं मुदा ।
वनानि पश्यन्नभितो गिरीन्नदी-
र्हरिन्ति तुङ्गान्सजला यतीश्वरः॥२१॥

उसके पश्चात् श्रीस्वामीजी हरे हरे जङ्गलों, ऊँचे ऊँचे पहाड़ों और जलवाली नदियोंको देखते हुए धीरे धीरे प्रसन्नतापूर्वक श्रीपीपाजीके नगरमें पहुँच गये ॥ २१ ॥

यदाशृणोद्भूपतिरागतं मुनिं
ममौ न हर्षातिशयस्तदा हृदि ।
सशिष्यमानीय गृहं समर्च्य तं
समानमित्यस्तुत धर्मतत्त्ववित् ॥२२॥

जब श्रीपीपाजीने सुना कि श्रीस्वामीजीमहाराज पधारे हैं तब उनके हृदयमें आनन्द नहीं समाया। प्रसन्न होकर बड़े आदर के साथ उन्हें अपने घर ले जाकर सादर पूजा करके इस प्रकार स्तुति करने लगे ॥ २२ ॥

श्रियांनिधिं ज्ञाननिधिं दयानिधिं
समस्तविद्याम्बुनिधिंतपोनिधिम्।
अनन्तकल्याणगुणैकसन्निधिं
पतिंयतीनां शिरसा नमाम्यहम् ॥२३॥

ऐश्वर्य, ज्ञान, दया, विद्या, तप और अनन्तकल्याणगुणोंके एकमात्र-निधि, आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ २३ ॥

अपारसंसारविसारिसागरे
निमज्जतो नाथ सनाथयञ्जनान् ।

तवावतारो जगतीतले प्रभो
व्रजेन्न केषामभिवन्दनीयताम् ॥२४॥

हे नाथ! इस संसारसागरमें डूबते हुए जनोंको सनाथ करते हुए श्रीमान्‌के इस अवतारको कौन अभिवन्दन नहीं करता है? ॥ २४ ॥

न शेषराजोऽपि सरस्वती न वा
न गीर्पतिर्नो च शचीपतिश्च यान् ।
गुणांस्त्वदीयानखिलान्समूहितुं
न शेकुरद्धा कथमावदानि तान् ॥२५॥

हे महाराज! शेष, सरस्वती, बृहस्पति तथा इन्द्र श्रीमान्‌के जिन समस्त गुणोंकी तर्कणाभी नहीं कर सके उनको मैं किस प्रकारसे वर्णन करूँ? ॥ २५ ॥

न यान्समस्ताः श्रुतयोऽप्यशक्नुव-
न्समीरितुं क्वापि गुणाद्धि तावकान् ।
कथं त आयान्तु मदीयवाक्पथं,
धिगस्तु मे बालिशतां महेश्वर ॥२६॥

हे महेश्वर! वेद भी आपके जिन गुणोंका वर्णन नहीं कर सकते वे मेरी जिह्वापर कैसे आवें? मूर्खताको धिक्कार है ॥ २६ ॥

तथापि नामस्मरणेन ते प्रभो
पवित्रितोऽहं भवितास्मि तत्क्षणम् ।
समाकलय्येति करोमि साहसं
हसन्तु निन्दन्त्वथवा बुधाधिपाः ॥२७॥

हे प्रभो! तथापि ऐसा विचार कर कि आपके नामस्मरणसे मैं तत्कालही पवित्र हो जाऊँगा—साहस करता हूँ। विद्वान् लोग चाहे मेरा उपहास करें, चाहे निन्दा करें॥ २७॥

जयत्वनन्ताय गुणाय तावकः
प्रभोऽवतारोऽयमहीन एत्य यम्।
जिनेश्वराः सानुचरा भयातुराः
समार्पिपन्स्वं त्वयि भक्तिभावतः॥२८॥

हे महाराज, आपका वह अवतार विजयी होवे जिसमें जिनेश्वरोंने भी अपने अनुयायियोंके साथ, भयसे व्याकुल होकर अपनेको आपको समर्पण कर दिया॥ २८॥

ऽदाय तेषां शरणं शरण्य या
ऽदर्शिता तेषु महापराधिषु।
दया त्वया शोभत एव सा त्वयि
प्रभौ महादीनदयापगापतौ॥२९॥

हे शरण्य! महापराध करनेवाले उन नास्तिकोंपर आपने जो दया प्रकट की वह आप जैसे महापुरुषको शोभा देता ही है॥ २९॥

बुधाः समस्ताः सुगतानुयायिनः
पदारविन्देष्वभयार्थिनस्तव।
प्रसादमादाय तव श्रियः पते
त्वदीयपादानुचरत्वमाश्रयन्॥३०॥

हे प्रभो! समस्तबौद्धविद्वान् भी अभयकी इच्छासे आपके चरणोंमें आकर, सेवक बन गये॥ ३०॥

त्वत्पादमूलमुपसेव्य नृणां स्थितानां,
त्वन्नाम चापि जपतां यतिराजराज !
त्वत्पादपङ्कजपरागरसप्रसूता,
मन्दाकिनी कलिकलङ्कमपाकरोति ॥२१॥

हे यतिराज ! आपके चरणोंसे निकली हुई गङ्गा श्रीचरणोंका आश्रय लेकर बैठे हुए तथा आपके नामका जप करते हुए पुरुषोंके दोषोंको दूर कर रही है ॥ २१ ॥

विराजते यस्य जनस्य मानसे
त्वदीयनामामृतसंचयश्च तम् ।
क्रुधोद्धतो रक्तविलोचनः शयु-
र्विषोल्बणोऽप्युत्सहते न बाधितुम् ॥३२॥

जिसके हृदयमें आपका नामामृत विद्यमान है उसे क्रोधोन्मत्त, रक्त नेत्रवाला, विषैला सर्प भी काट नहीं सकता ॥ ३२ ॥

विराजते यत्कमलोपमे करे
त्रिदण्डमृद्धं यतिराज ते शुभम् ।
स्फुटं हि तद्द्योतयति श्रियः पते
तव त्रिलोकीपतितां निरन्तरम् ॥३३॥

हे यतिराज ! हे श्रीकान्त ! आपके कमलतुल्य करमें जो त्रिदण्ड विराजमान है वह आपकी त्रैलोक्यस्वामिताका बोधन कराता है ॥ ३३ ॥

यतीन्द्र सत्कीर्तिकलाकलापतो
निशांपतिर्गौररुचिर्बभूव ते ।
प्रतापपुञ्जैश्च तव त्विषाम्पति-
र्ज्वलद्धविर्भुक्प्रतिमामशिश्रियत् ॥३४॥

हे श्रीयतीन्द्र ! आपकी कीर्ति-कला-कलापसे चन्द्रमा पाण्डुर हो गया है। तथा आपके ही प्रतापपुञ्जसे सूर्य भी अग्निसमान रक्तवर्णका हो गया है ॥ ३४ ॥

त्वदङ्घ्रिपाथोजमनोज्ञरेणवो
न धारिता यैरसकृत्स्वमूर्द्धनि ।
कथं तरीतुं जगदम्बुधिं हितै-
र्मनोरथानां शतकैर्विचार्यते ॥३५॥

हे स्वामिन् ! जिन्होंने आपश्रीके चरणकमलके सुन्दर रेणुको अनेकों-बार अपने शिरपर धारण नहीं किया वे लोग संसारसागरको पार करनेकेलिये कैसे इच्छा करते हैं ॥ ३५ ॥

त्वदीयपादाब्जपरागभृङ्गतां
न यो गतो निर्ममतो रमापते ।
कथं स उद्घाटयितुं समीहते
दृढाररं दुर्गममोक्षमन्दिरम् ॥३६॥

हे प्रभो ! जो पुरुष ममता त्यागकर आपके चरणकमलपरागका भ्रमर नहीं बना, वह दृढकपाटवाले दुर्गममोक्षमन्दिरको उघाड़नेकी कैसे इच्छा रखता है ? ॥ ३६ ॥

यदीह न स्यात्तव भारतीप्रभा
प्रभो प्रभुः स्याज्जनता कथंतराम् ।
उपेतुमद्यापि हरेः परं पदं
निविष्टनानाविधदुःखकण्टका ॥३७॥

हे प्रभो ! यदि संसारमें आपके उपदेश न होते तो जनता आजभी वैष्णवपदको कैसे प्राप्त हो सकती ? ॥ ३७ ॥

इयं च विष्णो तव भक्तिभीष्मसू-

महाप्रभावा विलसत्यहर्दिवम् ।

यदीयपीयूषपयःसमुच्चये

निमज्ज्य लोका विमलीभवन्त्यलम् ॥३८॥

हे विष्णो ! आपकी यह भक्तिरूपगङ्गा विलास कर रही है। जिसके अमृत समान जलमें स्नान करके लोग अत्यन्त निर्मल हो रहे हैं ॥ ३८ ॥

शरण्य ये त्वां शरणं समागता

भवन्ति ते क्षेमपरम्पराभुजः ।

सहैव सम्भूय ततः समन्तत-

स्तवोपदिष्टा उपयन्ति ताञ्छ्रियः ॥३९॥

हे शरण्य ! जो आपकी शरण में आते हैं वह अत्यन्त कल्याण पाते हैं। तथा ऐश्वर्य आदि सब ओरसे एकत्रित होकर उनको प्राप्त होते हैं ॥ ३९ ॥

ये त्वत्पदाम्बुजरजः शिरसा स्पृशन्ति,

ते निस्तरन्ति भवसागरमश्रमेण ।

जन्मादिदुःखरहितास्तव पादमूले,

नित्यं वसन्ति यतिराज सुखानुभूत्या ॥४०॥

हे यतिराज ! जो जन आपके चरणरजको शिरसे स्पर्श करते हैं वे लोग श्रम विना ही संसारसागरसे पार हो जाते हैं। जन्ममरणादि दुःखोंसे दूर रहकर सुखानुभव करते हुए आपके चरणोंके समीप नित्य निवास करते हैं ॥ ४० ॥

अनन्तदुःखानुगतं भवोदितं

भयं निराकर्तुमनाः प्रभो तव ।

शरण्यमासाद्य पदद्वयं पुन-
र्यदीक्षितस्तेन ततो हतोस्म्यहम् ॥४१॥

हे प्रभो! भयको दूर करनेकी इच्छावाला मैं आपश्रीके चरणकमलको प्राप्त हुआ। तथापि वह भय मुझे नहीं छोड़ता है। अतः मैं अब मारा गया ॥ ४१ ॥

प्रकाशरूपे भवतः पदद्वये
निवासमातन्वति मामके हृदि।
कथं तमस्तिष्ठति तत्र चित्रमि-
त्यहो विधेरेव हि दुर्विलासिता ॥४२॥

मेरे हृदयमें प्रकाशस्वरूप आपके कमलचरण निवास करते हैं तथापि आश्चर्य है कि वहाँ अन्धकार कैसे रहता है? निश्चय ही भाग्यकी यह दुष्ट लीला है ॥ ४२ ॥

तवात्र नामापि जपन्सुमन्त्रव-
न्मनोबिलालीनमहाघभोगिनम्।
सुखेन निष्कासयितुं क्षमो भवे-
ज्जनः समन्तात्प्रणतो भवत्पदे ॥४३॥

जो पुरुष मन्त्रसमान आपका नाम भी जप लेता है, तथा आपके चरणकमलमें श्रद्धालु रहता है वह अनायास ही मनरूपबिलमें छिपकर बैठे हुए पापरूपसाँपको बाहर निकालनेमें समर्थ हो जाता है ॥ ४३ ॥

करोषि यस्मिन् हृदये मम प्रभो
सदा निवासं शुचिनि श्रियः पते।
अहो सहेथा नयने निमील्य सं-
नतस्य तस्यैव कथं व्यथामिमाम् ॥४४॥

हे प्रभो ! आप मेरे जिस पवित्रहृदयमें सर्वदा निवास करते हैं, उसी नम्रहृदयकी आन्तरिकपीडाको आप आँखें बन्द करके कैसे सहन करते हैं ॥ ४४ ॥

सुरासुरासेवितपादपङ्कजं
पुनाति ते नाथ जगत्त्रयं हि तत् ।
विचार्य किं नाथ सनाथयस्यधो-
गतं त्रिलोकीगतमेव मामपि ॥४५॥

हे नाथ ! आपके श्रीचरण तीनों लोकोंको पवित्र करते हैं । इसे विचार करके त्रिलोकीके मध्यमें ही रहनेवाले इस जनको क्यों नहीं सनाथ करते ? ॥ ४५ ॥

निपीय ते नाथ वचःसुधामधा-
दियं त्रिलोकी परमां पवित्रताम् ।
अयं परन्त्वेक इहावलोकते
भवातिभीमार्णवभङ्गमग्नताम् ॥४६॥

हे नाथ ! आपके वचनामृतका पान करके तीनों लोक परमपवित्र हो गया है । केवल मैं ही एक ऐसा हूँ जो आपके शरण में रहकर भी संसारमहासागरके तरङ्गों में डूब रहा हूँ ॥ ४६ ॥

विराजसे त्वं हृदयाब्जमण्डपे
महेश येषां भविनां यशस्विनाम् ।
किमस्ति तद्वस्तु करस्थितं न य-
त्सदैव तेषां परमत्र मां विना ॥४७॥

हे महेश ! आप जिस मनुष्यके हृदयमें निवास करते हैं उनकेलिये कौनसी ऐसी वस्तु है जो हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष नहीं है, केवल मैं ही हूँ कि आपके शरणमें आकर भी अकृतार्थ हूँ ॥ ४७ ॥

यदस्ति दुःखं मम नाथ यादृशं
न तत्त्वयास्तेऽविदितं कदाचन ।
तदा जहि त्वं सपदीह गीयसे
जनैः शरण्यः करुणालयः सदा ॥४८॥

हे नाथ ! जैसा और जो मेरा दुःख है वह आपसे छिपा हुआ नहीं है। इसलिये आप उस दुःखका शीघ्र नाश करिये। क्योंकि लोग आपको शरणागतरक्षक अत एव दयालु कहते हैं ॥ ४८ ॥

जन्माटवीमतितरामटता मयेयं,
प्राप्ता तृषा विकलितेन महेश्वराद्य ।
त्वद्गीःसुधासरिदहो यतिराज तस्मा-
च्चेतः समेतु मम शाश्वतिकीं प्रशान्तिम् ॥४९॥

हे यतिराज ! इस जन्मरूपजङ्गलमें अनन्तकालपर्यन्त भटकते हुए, पिपासासे व्याकुल हुए मैंने आज आपके वचनामृतरूपनदीको प्राप्त किया है। अतः मेरा मन अनन्त और अनपायिनी शान्तिको प्राप्त करे ॥ ४९ ॥

अभिष्टूयाचार्य्यं ललितपदजालैः स्तुतिपदै-
र्निमग्नः स्नेहाब्धावमलकमलप्रख्यचरणे ।
पपातासौ भूपो यतिकुलपतेर्विह्वलतनु-
र्यतीशोत्थाप्यामुं शिरसि निहितं हस्तकमलम् ॥५०॥

श्रीस्वामीजी महाराजकी स्तुति करके प्रेमसागरमें डूबे हुए श्रीपीपाजी स्वामीजीके कमल-चरणोंमें विह्वल होकर पड़ गये। श्रीस्वामीजीने भी उठाकर उनके मस्तकपर अपना हाथ रखा ॥ ५० ॥

प्रसन्नोऽहं वत्स श्रवणपथमानीय ललितां,
दिगन्ते विश्रान्तां हृदयरमणीयामतितमाम् ।

त्वदीयां सत्कीर्ति सकलसुलभोत्सेकसलिलै-
विदित्वा त्वाऽस्पृष्टं मुनिवर उवाचेति वचनम् ॥५१॥

श्रीस्वामीजी महाराज बोले कि हे वत्स ! चारों दिशाओंमें फैली हुई तुम्हारी कीर्तिको सुनकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ। धनादिका अहङ्कार तुममें न देखकर मेरा मन सन्तुष्ट हो गया है ॥ ५१ ॥

ततः पश्चाद्राज्ञीप्रभृतय उपेत्य प्रभुपदं,
प्रणम्याशीराशीन्सुमुद उपगृह्यापि सकलाः।
यथामर्यादं ता नुनुवुरपरान्वैष्णवजनान्,
यतिर्लब्धातिथ्यः ससुखमनयत्तामथ तमीम् ॥५२॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम–पण्डितराज–परमहंसपरिव्राजकस्वामि-
श्रीभगवदाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्द
दिग्विजये दशमः सर्गः।

उसके पश्चात् श्रीमती रानीजीप्रभृतिने श्रीस्वामीजी महाराजके चरणोंके समीपमें आकर, प्रणाम करके, आशीर्वाद ग्रहण करके, अन्य श्रीवैष्णवों-को भी मर्यादानुसार प्रणामादि किया। तदनन्तर अतिथिसत्कार ग्रहण करके श्रीस्वामीजीने सुखपूर्वक उस रात्रिको व्यतीत किया ॥ ५२ ॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगव-दाचार्य्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये अष्टमः सर्गः।

अथैकादशः सर्गः

अथ संविधाय विधिमुग्रतपा
निखिलं च सान्ध्यमहरादियुगे ।
समलंचकार तपनेन समं
जगदर्हणीयपदमाशु यतिः ॥ १ ॥

रात्रि व्यतीत हो जानेके बाद उग्रतपवाले यतीश्वर श्रीस्वामीजी महाराज प्रातःकाल–ब्राह्ममुहूर्तमें सम्पूर्ण प्रातःकालीन विधि पूर्ण करके सूर्य भगवान्‌के साथ-साथ संसारभरके पूजनीय आसनपर विराजमान हुए। सूर्य भगवान् आकाशमें और श्रीस्वामीजी महाराज महार्घ्य सिंहासनपर आसीन हुए ॥ १ ॥

समधिष्ठितं च निजयोग्यपदं
सकलैस्तदीयचरणानुचरैः ।
परधामनोर्भवति या पदवी
करुणाकरोपदिश तामधुना ॥ २ ॥

नतमूर्द्धसन्निहितहस्तपुटः
सदसि स्थितो वसुमतीपवरः ।
विनिवेद्य वेद्यमिति मौनमगा-
दुपदेष्टुमारभत योगिवरः ॥ ३ ॥

अपनी-अपनी योग्यतासे श्रीस्वामीजीके सब सेवक बैठ गये। उस सभामें श्रीपीपाजीने प्रार्थना की कि महाराज मुक्तिमार्गका कृपया श्रीमान् उपदेश करें। इतना कहकर वह चुप हो गये। पश्चात् श्रीस्वामीजी महाराज उपदेश करने लगे ॥ २–३ ॥

अमृतं पिपासति जनो विरलो
विरलश्च वष्टि परिपाययितुम् ।
यदि वाञ्छथ श्रवणमान्तरतो
विषयस्य चास्य शृणुत प्रवणाः ॥ ४ ॥

श्रीस्वामीजी महाराज बोले कि अमृत पीनेवाले तथा अमृत पिलाने वाले भी विरले ही होते हैं। अतः यदि तुम लोगोंको इस विषयके सुननेकी इच्छा हो तो विनीतभावसे श्रवण करो ॥ ४ ॥

परमात्मधामगमनं विदितं
भगवत्प्रियं सततमुक्तिपदम् ।
अवगच्छतात्र सरणिं द्विविधा
भजनं हरेः प्रपदनं च जनाः ॥ ५ ॥

भगवद्धाम-गमनको ही वैष्णवी मुक्ति कहते हैं। उस मुक्तिके दो मार्ग जानो। भक्ति और प्रपत्ति ॥ ५ ॥

नियताधिकारमिह पूर्वगतं
सकलाधिकारमथ पश्चिमगम् ।
प्रभुपादसेवनपराश्चरमं
विवृणोमि सर्वहितसंनिहितम् ॥ ६ ॥

भक्ति और प्रपत्ति इन दोनों मार्गोंमेंसे प्रथम-भक्तिमार्ग नियताधिकार—सामान्यजन सेवनीय है और अन्तिम अर्थात् प्रपत्तिमार्ग विशिष्टजनकेलिये सेवनीय है। अतः प्रभुपादसेवन परायण! मैं अन्तिम-प्रपत्तिका ही विवरण करता हूँ ॥ ६ ॥

नहि विद्यते गतिरिहाद्य ममो-
द्गमनाय कापि सुलभाऽसुलभा ।

जगदीश केवलमलं विमलं
तव पादकञ्जमधिका सुगतिः ॥ ७ ॥

हे जगदीश ! आज मेरेलिये सुलभ-अथवा अ-सुलभ कोई भी मार्ग नहीं है। केवल आपके चरणकमल ही मेरी गति हैं ॥ ७ ॥

अगतेस्त्वमेव गतिरित्यनघं
शरणं तवैव करवाणि पदम्।
इति धारणं स्वमनसा सततं
भवति प्रपत्तिरतिसीमबला ॥ ८ ॥

हे विभो ! अगतिके आपही गति हैं। हे शरण्य ! आपके चरण-कमलोंको मैं शरण बनाता हूँ। इस प्रकारसे याञ्चा करनेको भी शरणा गति कहते हैं ॥ ८ ॥

अपराधकोटिशरणं शरणा-
ऽगतिरस्मि मे सुहृदकिञ्चनता।
भवतात्त्वमेव भवबन्धभिदा,
विधितीर्थराजपदभागधुना ॥ ९ ॥

हे शरण ! मैं करोड़ों अपराधोंका पात्र हूँ। अगति हूँ। दरिद्र-ताही मेरा मित्र है। अतः इस संसारके बन्धनको काटने के लिये तीर्थ-राज हो जाइये ॥ ९ ॥

मम शक्तिरस्ति न निजोद्धरणे,
तत एव सर्वग भरन्यसनम्।
तव पादयोरकृषि सर्वगते,
ऽमलयोर्निजार्पणमधर्मभिदोः ॥१०॥

हे सर्वशरण ! मेरे उद्धार के लिये मुझमें शक्ति नहीं है। अत एव आपके चरणमें मैंने अपना अर्पणरूप भरन्यास किया है ॥ १०॥

अनुकूलताप्रणयनं सततं,
प्रतिकूलतात्यजनमादरतः ।
वरणं च विश्वसनमान्तरिकं,
शरणागतेः कृपणताङ्गमिति ॥११॥

भगवान्‌की अनुकूलताका प्राप्तकरना, प्रतिकूलताका त्याग, 'भगवान् मेरी रक्षा करेंगे' ऐसा विश्वास, प्रभुही मेरी रक्षा करनेवाले हों इस प्रकारसे उनका अङ्गीकार, और दीनता ये प्रपत्ति के पाँच अङ्ग हैं। ॥११॥

विवृतिः पृथक् पृथगलं क्रियते,
शरणागतेरवयवस्य मुदा ।
शृणुत स्थिरेण मनसा सकलाः,
सकलाधितापशमनाय जनाः ॥१२॥

प्रपत्तिके पाँचों अङ्गोंका पृथक् पृथक् विवरण करता हूँ। तुम सबलोग सावधान मन से उसका श्रवण करो ॥१२॥

शरणं हि यः स्वमनसा नियत-
स्तदनुज्ञया व्यवहृतेः करणम् ।
स्मरणं च तस्य मनसा नितरा-
मनुकूलतेति विबुधैः कथिता ॥१३॥

जिसको मनसे अपना शरण नियत कर लिया, उसीकी आज्ञासे सब व्यवहार करना, उसीका हृदयमें सदा भजन करना, इसे ही विद्वानोंने अनुकूलता कही है ॥१३॥

श्रुतिजातसंविहितकृत्यचये,
रतिधारणं रतिततिर्मनसि ।
प्रतिषिद्धकर्मणि सदा विबुधैः,
प्रतिकूलतेति कथिता सकलैः ॥१४॥

श्रुतिविहित कर्मोंमें स्वमनमें वैराग्य धारण करना और प्रतिषिद्ध कर्मोंमें अनुराग न रखना इसे सब विद्वानोंने प्रतिकूलता कही है ॥१४॥

प्रभुशिष्टिरत्र दलिता भवति,
भ्रमतोऽपि केनचिदबुद्धिजुषा ।
भवति प्रपत्तिरनघा विहता,
पुनरेत्यसौ भवभवं कलिलम् ॥१५॥

यदि कोई प्रपन्न भ्रमसे भी प्रभुकी आज्ञा का उल्लङ्घन कर दे तो उसकी प्रपत्ति सर्वथा नष्ट हो जाती है और वह पुनः संसारजन्यदुःख में आकर पड़ता है ॥१५॥

भवतादुपाय इह मे त्वमलं,
जगदीश रक्ष शरणं पतितम् ।
हृदयेन तं प्रति सदेति मतिः,
प्रणिगद्यते बुधजनैर्वरणम् ॥१६॥

हे जगदीश ! आप ही हमारे उपाय बन जावें। शरण पड़ेकी रक्षा करें इस प्रकारसे प्रभु के प्रति प्रार्थना करनेको विद्वान्लोक वरण कहते हैं ॥१६॥

मम रक्षणे प्रभुरयं कुशलो,
विपदागमेऽथ समये विषमे ।

इति मानसे प्रतिपलं नितरां,
दृढभावना भवति विश्वसनम् ॥१७॥

विपत्तिके आने पर तथा, विषमदशामें, यह प्रभु मेरी रक्षा करने में समर्थ हैं इस प्रकारसे प्रतिक्षण अपने हृदय में दृढभावनाको विश्वास कहते हैं ॥ १७ ॥

प्रभुरस्ति मे परमकारुणिकः,
परमोऽस्त्युदार उदितोऽसुमताम् ।
मम रक्षणाय स दधाति गती-
रिति सद्विचार इह विश्वसनम् ॥१८॥

मेरे प्रभु बहुत दयालु और उदार हैं। मेरी रक्षा करने में अत्यन्त सामर्थ्य रखते हैं। इस प्रकारकी भावनाको विश्वास कहते हैं ॥१८॥

मदमेयपातकसुपुञ्जगिरि-
र्भविता कथं ननु भिदापथगः ।
यदि भेदनं भवति तस्य न त-
त्कथमापयिष्यति निजं स पदम् ॥१९॥
यदि कोऽपि नैजहृदये तनुते,
कुविचारमेनमिति खिन्नमनाः ।
स उपायतः पतित एव भवे-
त्पुनरेष्यतीह भवभीतिभरम् ॥२०॥

मेरे अनन्तपापसमूहरूपपर्वत इन प्रभुसे कैसे टूटेंगे ? यदि पाप नष्ट न हो सके तो वह अपना परमपद मुझे कैसे देंगे ? इस प्रकारसे यदि कोई संशयात्मा अपने हृदयमें विचार करता है तो वह उपायसे पतित हो जाता है और पुनः इस संसारके भयमें आकर पड़ता है ॥१९, २०॥

अहमस्मि पापनिरतः परमं
दुरवापमर्थितमिदं च मम ।
अथ दास्यते स कथमेतदिति
श्रितसंशयो भवमुपैति पुनः ॥२१॥

मैं तो सर्वदा पापमें ही लीन रहता हूँ और परमपदकी प्राप्ति तो बहुत बड़ी वस्तु है ! उसे वह प्रभु कैसे देंगे ! इस प्रकार संशय करनेवाला भी पुनः संसारमें पड़ता है ॥ २१ ॥

जननीह नास्ति जनकोऽपि न वा
न च बन्धुता न हि सुता न सुताः ।
तव नाथ केवलमिदं युगलं
स्वजनार्तिहृच्चरणयोः शरणम् ॥२२॥

हे नाथ ! माता, पिता, भाई, सुत, सुता आदि मेरा कोई रक्षक नहीं है । केवल आपके चरण ही मेरे शरण हैं ॥ २२ ॥

गतिरस्ति नैव भवनाथ परा
तव पादपद्मयुगलेन विना ।
मम पश्य नाथ तदकिञ्चनतां
तदनूद्धरातिकृपणं स्वजनम् ॥२३॥

हे प्रभो ! आपके चरणकमलयुग्मको छोड़कर मेरी अन्यगति नहीं है । हे नाथ मेरी दीनताकी ओर देखिये और अत्यन्तदीनस्वजनका उद्धार कीजिये ॥ २३ ॥

इति सर्वथैव परमेशपदे
स्वमनो निधाय तदसाधनताम् ।

प्रकटय्य तस्य सविधे वसतिं
विदुषांवराः कृपणतां ब्रुवते ॥२४॥

उपर्युक्तप्रकारसे परमेश्वरके चरणोंमें अपने मनका स्थापन करके अपनी उस असाधनताको प्रकट करके प्रभुके पास ही रहनेको कृपणता कहते हैं ॥ २४ ॥

भवमेत्य भक्तगण चङ्क्रमणं
स विदादधीत्यगणितं बहुशः ।
इह जीव एत्य पुनरात्मकृतेः
फलमेति मानवतनुं क्वचन ॥२५॥

हे भक्तगण ! वह जीव संसारमें आकर अनेकबार अगणित गमनागमन करता है । पश्चात् संसारमें ही अपने कर्मोंके फलके अनुसार किसी स्थलमें मानव शरीरको पाता है ॥ २५ ॥

परमेश्वर स्वकृपयैव यदा
स्वदृशा विलोकत इतः स तदा ।
भवति प्रशान्तविषयोऽथ नरः
परिचिन्तयत्यरिहमोक्षपदम् ॥२६॥

तब भगवान् यदि उसपर अपनी कृपादृष्टि करते हैं तो वह पुरुष विषयोंसे दूर होकर कामक्रोधादिशत्रुओंके मारनेवाले मोक्षमार्गकी चिन्ता करने लग जाता है ॥ २६ ॥

भगवत्कटाक्षविधुतावरणः
समवाप्तपुण्यपुरुषार्थरुचिः ।
अवलोकय योगनिचयेऽक्षमतां
विशति प्रपत्तिगृहमादरतः ॥२७॥

भगवत्कृपाकटाक्षसे नष्ट आवरणवाला होकर, पवित्रमोक्षमें रुचिवाला होकर, कर्म, ज्ञान और भक्तियोगमें अपनी असमर्थता देखकर जीव सादर प्रपत्तिमन्दिरमें प्रवेश करता है ॥ २७ ॥

जगदीशपादकमलालयकः

प्रतिकूलकृत्यविरतोऽविरतम् ।

परमप्रतीतिसहितः सहितो

विहरत्यजस्रमिह निर्भयतः ॥२८॥

जो निरन्तर भगवान्‌के चरणकमलोंमें ही निवास करता है, भगवत्प्रतिकूलकृत्योंसे सदा पृथक् रहता है, भगवान्‌पर परमविश्वास रखता है, वह स्वहितैषी जीव इस संसारमें सर्वदा निर्भय होकर विहार करता है ॥ २८ ॥

अतिपात्य कर्मकलिलं विमल-

स्तनुपातमेव सततं प्रमुदा ।

प्रतिपालयन्नित इतो वितनुः

प्रभुपादपद्ममधु तत्पिबति ॥२९॥

वह जीव कर्म दोषको नष्ट करके, निर्मल होकर आनन्दपूर्वक सदा मरणकी प्रतीक्षा करता हुआ, यहाँसे जाकर, दिव्यशरीर प्राप्त करके भगवान्‌के चरणकमलोंके मधुका पान करता है ॥ २९ ॥

ननु कर्म पुण्यमथ पापमपि

प्रचुरं हि तिष्ठति कृतं भविभिः ।

अविनाश्य तन्न भवसागरत-

स्तरणे क्षमो भवति कोऽपि नरः ॥३०॥

यहाँ एक शङ्का करते हैं—'इस संसारमें आकर जीवने चिरकालसे पुण्य और पाप उभयविध कर्मोंका सञ्चय किया है। और जब तक

इन दोनोंका नाश हो तब तक कोई भी मनुष्य भवसागरसे तरनेमें समर्थ नहीं हो सकता' ॥ ३० ॥

परमानुकम्पजगदीश्वरतः
श्रुतिरागता श्रुतिपरम्परया ।
अनुसृत्य तत्सरणिमेव जना
इह शक्नुवन्ति तदपक्षयणे ॥३१॥

इस प्रश्न का उत्तर करते हैं। परब्रह्मसे श्रवणपरम्परा से यह श्रुति जीवोंके कल्याणके लिये प्राप्त हुई है। उसी श्रौतमार्गका अनुगमन करके मनुष्य पापादि कर्मोंका अपक्षय कर सकते हैं ॥ ३१ ॥

यदि वेदमार्गमनुयन्त इतः
सकला नराश्च सुकृतान्यथवा ।
कुकृतानि नाशयितुमादधते
क्षमतां मुधा तु परमेश्वरता ॥३२॥

पुनः प्रश्न करते हैं कि यदि वेदमार्गका अनुगमन करते हुए सब मनुष्य अपने पुण्य और पापका नाश कर सकने में समर्थ हैं तो ईश्वरत्व तो व्यर्थ ही है ॥ ३२ ॥

वरमभ्युपैमि तव वाचमिमां
परमत्र तत्त्वमिदमस्ति परम् ।
जडभूतमस्त्यखिलशास्त्रमिदं
परवत्यतो हि फलसाधनता ॥३३॥

उत्तर करते हैं। हे भाई! तुम्हारा वचन मैं स्वीकर करता हूँ। परन्तु इसमें तत्त्व यह है कि शास्त्र तो जड हैं। वह स्वयं कर्मफल नहीं दे सकते। अतः फलसाधनता परतन्त्र है अर्थात् भगवदधीन है ॥ ३३ ॥

नहि यावदस्ति करुणा करुणा-
वरुणालयस्य नहि तावदये।
उदियात्फलं किमपि यत्नशतै-
स्तदधीनता श्रुतिचयस्य मता ॥३४॥

भगवान्‌की जबतक करुणा नहीं होती तबतक सैकड़ों यत्न करने पर भी किसी फलकी प्राप्ति नहीं होती। अतः सम्पूर्ण वेद भगवान्‌के ही अधीन हैं। स्वतन्त्र नहीं ॥ ३४ ॥

फलमित्युवाद निजकण्ठरवैः
स पराशरात्मज इतोऽपि ननु।
जगदीशसत्सलिलजाङ्घ्रिकृपा
नितरामपेक्षिततमा सकलैः ॥३५॥

"फलमत उपपत्तेः" इस ब्रह्मसूत्रमें श्रीव्यासजीने भी निजकण्ठरवसे ऐसा ही कहा है। अत एव भी सबको भगवान् के चरणकमलोंकी कृपा अत्यन्त अपेक्षित है ॥ ३५ ॥

पतितं स्वकं शरणमेव जनं
स हि वीक्षते यदि दयार्द्र दृशा।
तमधो निनीषति मुहुर्न विभुर्द-
हतीह तस्य भवभीतिलता ॥३६॥

वह भगवान् यदि दया करके अपनी दृष्टिसे शरण में पड़े हुए स्वजनको देखते हैं तब उसे कभी भी नीचे ले जाने की इच्छा नहीं करते अर्थात् उसका अधःपात नहीं होने देते। उसका संसार निवृत्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

न यदाभिवाञ्छति चितः पतनं
स विलोक्य तस्य परमार्तिनिधिम् ।
सुकृतस्य दुष्कृतगणस्य तदा
विलयं वदन्ति सुधियां प्रवराः ॥३७॥

जीवोंके परमकष्टको देखकर जब प्रभु उसके अधःपातकी इच्छा नहीं करते, तब उसके सुकृत और दुष्कृत विलीन हो जाते हैं ऐसा वेदज्ञविद्वान् कहते हैं ॥ ३७ ॥

इति सर्वशुभ्रगुणजातविभू-
षितविश्वनायकपवित्रपदे ।
निहितैकतानत उदस्तजग-
द्वशमानयत्यखिलभूतपतिम् ॥३८॥

इस प्रकारसे सम्पूर्ण कल्याणगुणोंसे शोभित पवित्रचरणोंमें एकतानता रखनेवाला तथा जगत्को परित्याग करनेवाला पुरुष भगवान्को वशमें कर लेता है ॥ ३८ ॥

रसशब्दशब्दित उदारमनाः
सततं प्रपन्नपरिपातिकृते ।
परितो हि वश्य इव दास इवा-
निशमभ्यमित्र्य इव स भ्रमति ॥३९॥

'रसो वै सः' इस श्रुतिके अनुसार रसशब्दवाच्य परमरसिक वह प्रभु प्रपन्नपुरुषोंकी रक्षाके लिये शत्रुओंके जीतनेमें समर्थ, वशमें रहनेवाले दासके समान चारों ओर फिरा करते हैं ॥ ३९ ॥

करुणानिधानचरणप्रसितः
प्रयतः प्रसादितजगत्सुखदः ।

समवाप्तकाम उदितप्रतिभो
नचिरेण मुक्तपदभाग्भवति ॥४०॥

भगवान्‌के चरणोंमें लगा हुआ, जितेन्द्रिय, भगवान्‌को प्रसन्न करने-वाला, आप्तकाम, प्रतिभावाला पुरुष शीघ्रही मुक्त हो जाता है ॥ ४० ॥

ननु तत्किमस्ति भुवि वस्तु परं
न ददाति यन्निजजनाय हरिः ।
शरणागताय शरणागतपः
परमप्रसादमुपयात इह ॥४१॥

संसारमें वह कौनसा सुन्दर पदार्थ है जिसे भगवान् प्रसन्न होकर, शरणागत जनको नहीं देते ? ॥ ४१ ॥

भगवान्स्वभक्तभजनोत्सुकतां
बिभृते दयारससरिज्जलधिः ।
व्यथते व्यथालवमपि स्वजने
परिवीक्ष्य दीनजनबन्धुरयम् ॥४२॥

दयासागर, दीनबन्धु भगवान् अपने भक्तोंके भजन करनेकेलिये उत्सुक रहा करते हैं। तथा स्वजनोंपर अल्पमात्र भी दुःख देखकर दुःखित हो जाते हैं ॥ ४२ ॥

पतितोऽहमस्मि भववारिनिधौ
प्रणतार्तिनाशन जनोऽद्य तव ।
इति शृण्वतो द्रवति तस्य मनो
नहि सीमितास्ति तदनुग्रहिता ॥४३॥

हे प्रणतजनोंके दुःख दूर करनेवाले नाथ ! मैं आपका दास संसारमें आज पड़ा हुआ हूँ। ऐसा सुनते ही भगवान्‌का हृदय पिघल जाता है। क्योंकि उनकी दयालुताकी सीमा नहीं है ॥ ४३ ॥

कलिकालकल्ककलिता जगती
नहि धर्म्यकर्मसुरतिर्भविनाम् ।
शरदिन्दुवक्त्ररमणीमणयो
गणयन्ति नैव शुभधर्मपथम् ॥४४॥

जगत् कलिकालके तापसे युक्त हो रहा है। मनुष्योंकी धर्मयुक्त कर्मोंकी प्रीति नहीं रही। शरत्कालके चन्द्रसमान सुन्दरस्त्रीरत्नवाले पुरुष धर्मके शुभमार्गकी ओर दृष्टिपात ही नहीं करते हैं ॥ ४४ ॥

हतभव्यभास उदरम्भरयः
परिहेयकर्मभरभारजुषः ।
अवमानयन्ति सततं च सतो
नहि मानयन्ति बत दीनजनम् ॥४५॥

सबके सुन्दरतेज नष्ट हो गये हैं। पेटकी चिन्ता सबको पड़ी है। हेय—त्याज्य कर्मोंको ही करने लग गये हैं। लोग सज्जनोंका सदा अपमान करते हैं। अभागे दीनोंका कोई आदर नहीं करते ॥ ४५ ॥

जननीतिरस्कृतितिरस्कारिणी-
परिलुप्तवित्त्यधितमः प्रसराः ।
जनकापमानबहुमानजना
जनयन्ति नैव कुलधर्मरतिम् ॥४६॥

माताके तिरस्काररूप पर्देसे ज्ञानके लुप्त हो जानेसे अत्यन्त अज्ञानी लोग तथा पिताका अपमान करनेवाले लोग स्वकुलधर्ममें प्रीति ही नहीं करते ॥ ४६ ॥

श्रुतिसत्कथा व्यथयतीव परं
सततं श्रुतो विषयमार्गजुषाम् ।

विषमेऽस्त्यनेहसि हरेः करुणा
शरणं नृणां परमसत्यमिदम् ॥४७॥

वेदोंकी सुन्दर कथा विषयिजनोंके श्रोत्रोंको पीडित करती है। ऐसे विषमसमयमें, यह सत्य है कि, भगवान्‌की दयाके अतिरिक्त मनुष्योंको और कोई शरण नहीं है ॥ ४७ ॥

तत एव भावुकजनाः सकलाः
परिहृत्य मन्थरगतिं झटिति।
भगवत्पदाब्जयुगलाधिलस-
द्विमलालयं विशत शुद्धधिया ॥४८॥

इसलिये भव्यजनों! तुम सबलोग मन्दगतिको छोड़कर भगवान्‌के चरणकमलरूपसुन्दरविमलमन्दिर में शीघ्र प्रवेश करो ॥ ४८ ॥

जगदीश पाहि निजदीनजनं
शरणं त्वमेव भव मेऽद्य विभो।
इतिवाचमेव हृदयाद्गलिता-
मनुपालयत्ययि हरिः सततम् ॥४९॥

'हे जगन्नाथ! अपने दीनजनकी रक्षा कीजिये। आपही मेरे शरण बनिये।' इस प्रकारसे हृदयसे निकलती वाणीकी ही प्रतीक्षा भगवान् सतत करते रहते हैं ॥ ४९ ॥

सुतरां दयापरवशो भगवा-
न्दयितैव वो गलितमानभुवाम्।
शबरीकपीशगजराजपतिः
स उपेक्षणं नहि करिष्यति वः ॥५०॥

दया—परवश होकर भगवान् अभिमानशून्य तुम्हारे ऊपर अवश्य दया करेंगे। भिल्लनी, सुग्रीव और गजके स्वामी कभी भी तुम्हारी उपेक्षा नहीं करेंगे ॥ ५० ॥

इति यतिपतिराधिपत्यं प्रपत्तेः सभायां तदा,
सकलजनसमक्षमाख्याय मोक्षप्रदाया मुदा।
उपसमहरदीश्वरस्य प्रसत्तौ व्यवस्थापय—
न्नुपगतनृमनांसि यत्नाद्विविच्य श्रुतीस्तत्त्वतः ॥५१॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये एकादशः सर्गः।

उस समय इस प्रकार से मोक्षप्रद प्रपत्तिकी प्रभुताका सभामें समस्त पुरुषोंके समक्ष वर्णन करके आये हुए सब लोगोंके मनको भगवत्प्राप्तिमें व्यवस्थित करते हुए यतिपति श्रीस्वामीजी महाराजने तत्वज्ञानपूर्वक श्रुतिकी विवेचना करके उपदेशका उपसंहार कर दिया ॥ ५१ ॥

इतिश्रीपरमहंसपरिव्राजकस्वामि-श्रीभगवदाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायामेकादशः सर्गः।

अथ द्वादशः सर्गः

सायं पुनः सपदि संसदि सन्निपत्य,
पातुं स्वधर्मवचनामृतसिन्धुबिन्दून्।
धर्मैकभूतिततिभव्यधियोऽस्य राज्ञ,
आजग्मुराशु सकला मुदिताः प्रजास्ताः ॥१॥

इन पीपाराजकी समस्त प्रजा प्रसन्न होकर, धर्मवचनरूप अमृत-सागरके कुछ बिन्दुओंका पान करनेकेलिये मिलकर सायङ्काल पुनः सभामें आयी ॥ १ ॥

आचार्य्यवर्य्यचरणा अपि चारु रेजुः,
साद्धं बुधैः सकलशिष्यवरैः सभायाम् ।
प्रावाचि केनचन किं करणीयमत्र,
श्रीवैष्णवैः सविधि तत्कृपयादिशेति ॥ २ ॥

सभामें शिष्यों सहित श्रीमदाचार्य्यचरण भी विराजमान थे। किसीने जिज्ञासाकी कि हरिजनोंको किस-किस विधिसे क्या क्या करना चाहिये ॥ २ ॥

प्रार्थ्यं निशम्य करुणावरुणालयोऽसौ,
सर्वान् कृतार्थयितुमेवमनिन्द्यकीर्तिः ।
वक्तुं समारभत भागवताः सदैव,
श्रीवैष्णवैर्हरिजनैरितिवर्तितव्यम् ॥ ३ ॥

श्रीस्वामीजीमहाराजने इस प्रकारसे उपदेश देना आरम्भ किया। वैष्णवोंको इस प्रकारसे इस संसारमें वर्तना चाहिये ॥ ३ ॥

अस्याखिलस्य भुवनस्य परं विधाता,
भर्ता लयं गमयिता परमेश्वरोऽयम् ।
सर्वाभिरेव शुचिभक्तिभिराशुतोषः,
सेव्यो विभुः प्रतिपलं सकलैस्तदीयैः ॥ ४ ॥

सम्पूर्णब्रह्माण्डके बनानेवाले, पालन करनेवाले तथा नाशकरनेवाले केवल परमात्मा ही हैं। अतः नवविधभक्तियोंके द्वारा उन्हींकी सेवा करनी चाहिये ॥ ४ ॥

ध्येयः स एव भगवाननिशं हृदब्जे,
भक्तैस्स्वभूः शिवगुणोऽव्यभिचारिभक्त्या ।

किन्त्वन्यदेवविषये मनसापि चिन्त्यो,
द्वेषः कदाचिदपि नैव तदीयभक्तैः ॥ ५ ॥

भगवद्भक्तजनोंको उचित है कि उन्हीं भगवान्‌का अव्यभिचारिणी भक्तिसे निरन्तर हृदयमें ध्यान करें तथा कभी भी, मनसे भी अन्य देवके विषयमें द्वेषबुद्धि न करें ॥ ५ ॥

जप्यः सदा गुरुपदाब्जमहाकृपातः,
श्रीराममन्त्र इह सर्वजनैरवाप्तः ।
नैमित्तिकानि सकलान्यपि किल्बिषाणि,
नित्यान्नपि श्लथयितुं नितरां समर्थः ॥ ६ ॥

सर्व हरिजनोंको चाहिये कि नित्य और नैमित्तिक समस्तपापोंको नष्ट करनेमें समर्थ, गुरुचरणोंकी महती कृपासे प्राप्त, श्रीराममन्त्रका सर्वदा जप करें ॥ ६ ॥

श्रीराममन्दिरमठाञ्जगतो हिताय,
कर्तुं च कारयितुमादरतोऽस्ति युक्तम् ।
तत्रागताः सहृदया हरिभक्तिरक्ताः,
स्नेहेन तेऽनुपधिना परिपूजनीयाः ॥ ७ ॥

संसार के कल्याणके लिये श्रीरामजीका मन्दिर तथा मठ बनवाना योग्य है । तथा उस मन्दिर और मठमें जो कोई विद्वान्, महात्मा अथवा प्रभुके भक्त आ जावें उन सबकी शुद्ध प्रेमसे पूजा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

यत्केवलं निजमहोदरपूरणाय,
निर्मापितं भवति राघवमन्दिरादि ।
एकाकिनो विहरणं तदपेक्षया स्या-
त्कल्याणकृन्मम मते भगवत्प्रपन्नाः ॥ ८ ॥

जो मन्दिर और मठादि केवल अपने मोटे पेटको भरनेके लिये ही बनाये जाते हैं, उनकी अपेक्षा तो उसका अकेला विचरना ही कल्याणकारक है ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्रचरणामलभक्तिलक्ष्म,
तत्प्रीतयेऽत्र तुलसीमणिगुम्फितैका ।
रम्या विमुक्तिफलिका निजकण्ठलग्ना,
माला शुभा हरिजनैस्सततं हि धार्या ॥ ९ ॥

श्रीरामजीकी भक्तिका चिह्नस्वरूप, भगवत्प्रसन्नताके लिये मुक्तिफलको देनेवाली श्रीतुलसीके मणियोंसे बनायी गयी हुई माला—कण्ठी सदा हरिभक्तोंको अपने कण्ठ में रखनी ही चाहिये ॥ ९ ॥

वाल्मीकिवक्त्रसरसीरुहसंप्रवृत्त-
वाणीविलासपरिशीलनमेव कार्यम् ।
कार्यः सदा हरिपदाम्बुजभक्तिगङ्गा-
पाथःपवित्रहृदयैरथ वेदपाठः ॥१०॥

भगवद्भक्तिरूपगङ्गाके जलसे पवित्र हृदयवालोंको श्रीमद्वाल्मीकिरामायणका अनुशीलन करना चाहिये । तथा नित्य वेदपाठ भी करना चाहिये ॥ १० ॥

नित्यं ललाटपटले शुभचित्रकूटा-
योध्याप्रयागविमलस्थलिकाभ्य एव ।
श्वेता मृदः शुभतमाश्च समाहृताश्चे-
त्ताभिः शिवं विरचनीयमथोर्ध्वपुण्ड्रम् ॥११॥

चित्रकूट, अयोध्या, प्रयागके निर्मल स्थानोंसे ही यदि परमपवित्रश्वेतमृत्तिका लायी हुई हो तो उससे श्रीसहित ऊर्ध्वपुण्ड्र करना चाहिये ॥११॥

श्रीभारतीयवसुधा निखिलैव पूता,
तत्रापि देवसरिदादिनदीजलानि ।
काशीप्रयागभगवज्जनिभूगिरीन्द्रा,
एतानि पावकतमानि भजेत तस्मात् ॥१२॥

समस्त भारतवर्ष स्वयं ही पवित्र है। उसमें भी गङ्गा, सरयू आदि नदियोंका जल पवित्र है। एवं काशी, प्रयाग, अयोध्या, चित्रकूटपर्वत आदि पवित्र हैं अतः उनमें निवास करना चाहिये ॥ १२ ॥

कौपीनधारणमहर्निशमेव कार्यं,
श्रीवैष्णवैः श्रुतिशिरोगतधर्मनिष्ठैः ।
काषायसंस्कृतमथान्यदपीह वस्त्रं,
धार्यं यथासमयमेव यथाप्रदेशम् ॥१३॥

विरक्त श्रीवैष्णवोंकी कौपीन धारण करना चाहिये। तथा देशकालके अनुसार अन्यवस्त्र भी धारण कर लेना चाहिये ॥ १३ ॥

श्रीवैष्णवैर्हरिपदानुरतैर्विरक्तै-
स्त्याज्यः सदैव रमणीद्रविणादिमोहः ।
ये दुर्भगा विधिहता विषयेषु रक्ताः,
प्रेत्य व्रजन्ति नरके ननु रौरवे ते ॥१४॥

जो वैष्णव विरक्त हों उन्हें स्त्री और धनादिका मोह अवश्य छोड़ देना चाहिये। जो मूर्ख ऐसा नहीं करते वे मरकर रौरव नरकमें जाते हैं ॥ १४ ॥

आच्छोदनं विविधचौर्यमथापि लोप्त्र-
वस्तुग्रहो ग्लहपणौ च समाह्वयश्च ।

मद्यामिषाद्यभिरुचिर्द्यूत धूमपानं,
त्याज्यानि वैष्णवजनैर्तिरामिमानि ॥१५॥

वैष्णवजनोंको शिकारखेलना, चोरी करना, चोरीका वस्तु लेना, द्यूतक्रीडा, पासा खेलना या किसी प्रकारका जूआ खेलना, मदिराभङ्गादिका सेवन करना, गांजा सूका तमाकू चरस आदिका पीना इत्यादि सब प्रकारके व्यसनोंको छोड़ देना चाहिये ॥ १५ ॥

वाच्यान्यरुन्तुदवचांसि कदापि नैव,
त्याज्यानि दम्भपरनिन्दनदुष्कृतानि ।
भद्राय रामचरणाम्बुरुहानुरक्तः,
सत्यव्रतं प्रतिदिनं परिपालनीयम् ॥१६॥

भगवान्के उपासकोंको चाहिये कि कभी मर्मच्छेदी वचन न बोलें। दम्भ, परनिन्दा और दुराचारका त्याग कर दें। अपने कल्याणकेलिये सर्वदा सत्यव्रतका परिपालन करें ॥ १६ ॥

श्रीमद्गुरौ च भगवत्यतितीव्रभक्ति-
योगं च वैष्णवजनेषु विनम्रभावम् ।
संस्थापयेत्स्वमनसि स्वहिताभिलाषी,
नानादरात्मकवचोभिरिमे हि योज्याः ॥१७॥

वैष्णवजनको उचित है कि धर्मात्मगुरुमें और भगवान्में तीव्र भक्तियोग करें। अन्यवैष्णवोंके साथ नम्रभावसे व्यवहार करें। अनादरयुक्तवचनोंसे कभी भी इन्हें नहीं बुलाना चाहिये ॥ १७ ॥

येषां मनःसरसिजे भगवत्पदाब्ज-
द्वन्द्वं समुल्लसति सर्वशिवप्रदायम् ।
तेषां समीपमभिगम्य बुधाः सुबोधं,
गृह्णन्तु नित्यमखिलान्धतमोदिनेशम् ॥१८॥

जिनके हृदयमें भगवत्पदारविन्द विराजमान हों उनके समीप जाकर ज्ञानको नित्य ग्रहण करना चाहिये ॥ १८ ॥

पश्यत्सु सत्सु गुरुषु श्रितविष्णुपादै-
धर्ष्ट्यं विवेकविकलं किमपीह कार्यम् ।
कार्य्यं न कैश्चिदपि धर्मधुरीणदिष्ट-
सन्मार्गमीप्सुभिरिति श्रुतिचोदनास्ति ॥१९॥

विष्णुभक्तोंको चाहिये कि गुरुओंके समक्ष किसी प्रकारकी धृष्टता अथवा विवेकशून्य कोई भी कार्य न करें । ऐसी वेदाज्ञा है ॥ १९ ॥

विष्णोः सतां विरतिराज्यजुषां च साधोः,
स्युर्दर्शनानि सुखदानि यदा यदैव ।
बद्ध्वाञ्जलिं च विनमय्य निजोत्तमाङ्गं,
भव्याः सदा नतितीस्तनुतैव तेषु ॥२०॥

श्रीविष्णुभगवान्‌का, साधुपुरुषका, वैराग्यवान् सज्जनोंका जब-जब दर्शन हो तब तब हाथ जोड़कर मस्तक झुकाकर प्रेमसहित सादरप्रणाम करना चाहिये ॥ २० ॥

प्रातः सदा हरिजनाः शयनात्स्मरेत,
रामं स्वकीयगुरुपातसरोजयुग्मम् ।
येन्येपि दृष्टिपथमभ्युपयन्तु पूज्याः,
सश्रद्धमानमत तानपि भद्रकामाः ॥ २१ ॥

हे हरिजनो ! प्रातःकाल सदा आसनपरसे उठकर श्रीरामजीका और तदनन्तर अपने गुरुचरणोंका स्मरण करो । उस समय अन्य जो कोई पूज्य तुम्हारी दृष्टिमें आवे उन्हें भी श्रद्धाके साथ पूज्यभावसे नमस्कार करो ॥ २१ ॥

एकासने स्वगुरुभिर्न समासनीयं,
नावं रथं गजमथाश्म विहाय काष्ठम् ।
आचार्य एव परतोऽपि परोऽस्ति देव-
स्तस्मात्प्रसादयत तं सततं शिवाय ॥ २२ ॥

नौका, रथ, हाथी, पत्थर और काष्ठासनके अतिरिक्त गुरुके साथ एकासनपर कभी न बैठना चाहिये। आचार्य भगवत्स्वरूप होनेसे वह परात् पर देव है। अतः अपने आचार्य गुरुको सदा प्रसन्न रखना चाहिये ॥ २२ ॥

ऊर्जस्वलोऽहमहमेव महान्त्समर्थो,
विद्वानहं द्रविणवानहमेव चात्र ।
एतादृशी निजसमृद्धिविनाशयित्री,
त्याज्या प्रयत्नपटलैः सुनरैरहन्ता ॥ २३ ॥

मैं ही बलवान् हूँ, मैं ही महान् समर्थ हूँ, मैं ही विद्वान् हूँ, मैं ही धनवान् हूँ, इस प्रकारका उन्नतिनाशक अहंकार छोड़ देना चाहिये ॥ २३ ॥

राज्ञां सतां च विदुषां महतां समक्षं,
श्लाघेत यो निजगुणं किल वावदूकः ।
पापेन सोऽधमतमो निहतो वराको,
दृष्ट्वा विशुद्ध्यति विभावसुमेव मूढः ॥२४॥

जो वावदूक, राजाओं, सज्जनों, विद्वानों और महापुरुषोंके सामने स्वयं अपने गुणोंका वर्णन करता है वह पापका मारा हुआ महानीच-पुरुष सूर्यका दर्शन करके शुद्ध होता है ॥ २४ ॥

ये ज्ञानभक्तिरहिता दुरितातिपृक्ता,
धौर्त्येन वञ्चयितुमत्र जगत्समस्तम् ।

मालाकराः कुमतयो विधृतोर्ध्वपुण्ड्रा,
वाचापि धर्मरिपवो न कदापि तेऽर्च्याः ॥२५॥

जो ज्ञान और भक्तिसे शून्य हैं 'गीतापुस्तक हाथ साथ विशवा माला विशाला गले' है और माथेमें तिलक लगा लिया है ऐसे छद्मवेषी धर्मके शत्रु वाणीमात्र से भी सत्कारके योग्य नहीं हैं ॥ २५ ॥

मित्रद्रुहो गुरुविरोधपरा नरा ये,
ये चापरस्य सुगुणेष्वपि दृष्टदोषाः ।
ये भ्रूणहिंसनविधौ परमं सुदक्षा,
हेयाश्च ते सपदि नारकिणः सदैव ॥ २६ ॥

जो मित्रके साथ द्रोह करनेवाले हैं, गुरुओंसे विरोध करते रहते हैं, दूसरोंके सुन्दर गुणोंमें भी दोष देखते हैं, भ्रूणहत्या करते हैं, ऐसे नारकी लोगोंका शीघ्र ही त्याग कर देना चाहिये ॥ २६ ॥

यद्वस्तुजातमिह विष्णुपदेऽनिवेद्यं,
ग्राह्यं भवेन्न हि कदाचन वैष्णवैस्तत् ।
तेनाहिफेनविजयादिकमादकानि,
वस्तूनि हेयपदवीं सुतरां गतानि ॥ २७ ॥

जो वस्तु भगवान्‌के सम्मुख नैवेद्यरूपमें न रखा जा सके उस वस्तुका वैष्णवोंको कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिये । अतः अफीम, भांग, आदि प्रत्येक मादकवस्तु भगवान्‌के अग्राह्य होनेसे वैष्णवोंकेलिये अत्यन्त अग्राह्य है ॥ २७ ॥

आरात्रिकं भवति यत्र हरेस्तु तत्र,
व्युत्थानमेव हरिभक्तजनैर्विधेयम् ।
ध्येयं च विष्णुपदकञ्जयुगं मनोज्ञ-
मन्ते प्रणम्य विरमेयुरपेतदोषाः ॥२८॥

जहाँ भगवान्की आरती होती हो वहाँ सबको खड़ा हो जाना चाहिये। भगवान्के चरणकमलका ध्यान करना चाहिये। पश्चात् साष्टांग प्रणाम करके स्वस्वकार्य करना चाहिये ॥ २८ ॥

भस्मान्तमित्यधिवचः श्रुतिसम्मतं य-
त्तस्माच्छरीरमिदमत्र यदा व्यसु स्यात्।
भस्मावशेषमखिलैः करणीयमेव,
नास्यं तदप्सु न वने न च भूमिगर्भे ॥२९॥

"भस्मान्तं शरीरम्" इस यजुर्वेदके वचनके अनुसार यह शरीर जब निष्प्राण हो जावे तो इसे अवश्य भस्म कर देना चाहिये। पृथ्वीमें भी नहीं गाड़ना चाहिये। वन वा जलमें भी नहीं फेंकना चाहिये ॥२९॥

मानापमानविषये समता समन्ता-
च्छ्रीवैष्णवैर्हरिपदाब्जरतैरुपास्या।
श्रेयोभिलाषिभिरसुव्यसनागमेऽपि,
मानाभिभङ्गभयतोऽपि मृषा न वाच्यम् ॥३०॥

भगवानके ऐकान्तिकभक्तोंको चाहिये कि मान और अपमानके विषयमें समता धारण किये रहें। जो सत्य वस्तु हो उसे कभी छिपाना नहीं चाहिये। तथा प्राणसङ्कटमें भी और मानभङ्गके भयसे भी असत्य नहीं बोलना चाहिये ॥ ३० ॥

स्त्रीभिर्धृतानि वसनानि च भूषणानि,
स्पृश्यानि नैव मतिमद्भिरपेतरागैः।
नास्यं सह क्वचन ताभिरथो रहो वा,
तद्वाचया न वचनं परिमिश्रयेयुः ॥३१॥

विरक्तपुरुषोंको चाहिये कि स्त्रियोंके पहिने हुए वस्त्रों तथा आभूषणोंका स्पर्श न करें तथा स्त्रियोंके साथ एकान्तमें न बैठें और न कभी बात करें ॥ ३१ ॥

श्रीविष्णुवैष्णवसभाजनतत्पराणा-
मिष्टेतरत्किमपि केऽपि समाचरन्तः ।
यामीर्विषह्य नरकादिषु यातनास्ता,
मूकाश्च कुष्टिकलिताश्च भवन्ति भूमौ ॥३२॥

भगवान् और भागवत की सेवामें तत्पर रहनेवाले हरिजनोंका जो अनिष्ट करते हैं, वे नीचमनुष्य यमपुरीकी यातनाओंको सहन करके गूँगे और कोढ़ी होकर जन्म लेते हैं ॥ ३२ ॥

ये प्रेतभूतपिशिताशनयक्षसंघं,
मूढा निरन्तरमुपासत ईशबुद्ध्या ।
तेषां न भुक्तिरिह मुक्तिरथो परत्र,
न स्यात्कदापि विविधभ्रमजालभाजाम् ॥३३॥

जो लोग भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस आदिकी सर्वदा ईश-बुद्धिसे उपासना करते हैं, उन भ्रान्तपुरुषोंको कभी भी भोग और मोक्ष प्राप्त नहीं होता है ॥ ३३ ॥

जिह्वा विशुद्ध्यति नृणामृतसत्यवाचा,
कर्णावुपास्य हरिकीर्तिकथामृतौघम् ।
पादौ च तीर्थगमनेन करौ च दानै-
र्नित्यं मनो निखिलदम्भविवर्जनेन ॥३४॥

मनुष्योंकी वाणी सत्यसे शुद्ध होती है, कान भगवत्कथाश्रवणसे, तीर्थाटनसे पग, दानसे हाथ और दम्भ आदिके त्यागसे मन शुद्ध होता है ॥ ३४ ॥

होमे जपे हरिपदस्मरणे व्रते वा,
देवार्चने हरिजना न समालपेयुः ।

आवश्यकं यदि भवेत्परमं तदा त्रि-
राचम्य कार्य्यमधिकृत्य वदेद्यतात्मा ॥३५॥

भजन, जप और होमके समय किसीके साथ कोई अन्य वार्तालाप न करें। यदि वार्तालाप बहुत आवश्यक हो तो तीन आचमन करके कार्यके अनुसार वार्ता करें। विशेष नहीं ॥ ३५ ॥

आचार एव परमः श्रुतिसम्मतोऽस्ति,
धर्मो निरन्तरमथो हृदि सद्विचारः।
पूर्वेण शुद्ध्यति बहिःकरणव्रजोऽयं,
बन्धस्य हेतुरपरेण मनः क्रमेण ॥३६॥

आचार और सद्विचार ये दोनों वेदप्रतिपादित धर्म हैं। आचार–स्नान शौच आदिसे बाह्य इन्द्रिय शुद्ध होते हैं और सद्विचारसे बन्धका कारण मन शुद्ध होता है ॥ ३६ ॥

यो विष्णुभक्तमवलोक्य धनादिगर्वा–
द्बद्धाञ्जलिर्नतशिरा न समुत्थितः स्यात्।
वोभूयते स हि परेत्य हिमादिसोढ़,
यत्र क्वचिच्छिखरिणो दृषदां सुभित्तम् ॥३७॥

जो विष्णुभक्तको देखकर गर्वसे हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर खड़ा नहीं होता वह मरकर हिम, ताप आदिका सहनकरनेवाला जहाँ कहीं भी पहाड़के पत्थरका टुकड़ा फिर फिर होता रहता है ॥ ३७ ॥

मालाभिधेयतिलकानि च तप्तमुद्रे,
श्रीराममन्त्रचरमद्वयमादधानैः।
चारित्रभूषणविभूषितमानसाढ्यै–
र्भक्तैः परोपकृतिरत्नचयैर्हि भाव्यम् ॥३८॥

ऊर्ध्वपुण्ड्रतिलक, तप्तमुद्रा, भगवत्सम्बन्धी नाम, कण्ठी और राम-मन्त्रको धारण करनेवाले, सदाचारी भक्तोंको सदा परोपकारपरायण होना चाहिये ॥ ३८ ॥

यानेन विष्णुभवने गमनं न कार्यं,
कैश्चिद्विचारचतुरैर्न च पादुकाभ्याम् ।
देवोत्सवादिसमये प्रभुपादपूजा,
कार्य्या सदैव परधामनिवासकामैः ॥३९॥

भगवान्के मन्दिरमें रथादिपर चढ़कर अथवा पादुका पहिनकर किसीको भी नहीं जाना चाहिये। मोक्षाभिलाषी हरिजनोंको उचित है कि भगवान्के चरणोंकी पूजा करें ॥ ३९ ॥

आसेवितां हरिजनैः प्रतिमां विलोक्य,
विष्णोः सपद्यधिधरं शिरसोरसा च ।
पद्युग्मबाहुयुगलेन च नम्रभावै-
स्त्रिर्दण्डवत्प्रणतयः सकलैर्विधेयाः ॥४०॥

भक्तिरूपसुन्दररत्नोंके किरणोंसे सुशोभितमनवाले पुरुषोंको उचित है कि हरिजनोंद्वारा पूजित भगवन्मूर्तिको देखकर तत्काल ही साष्टांग प्रणाम करें ॥ ४० ॥

यन्मन्दिरे भवति चन्दनपत्रपुष्पं,
देवार्पितं स्पृशतु कोप्यशुचिर्न तच्च ।
कार्य्या न हि प्रणतिरेककरेण विष्णौ,
नम्रः परिक्रमणमीड्यतमस्य कुर्यात् ॥४१॥

मन्दिरमें भगवत्सम्बन्धी चन्दनपुष्पादिको स्नानादि किये बिना कोई मनुष्य स्पर्श न करे। एक हाथसे भगवान्को प्रणाम न करे। नम्र होकर भगवान्की प्रदक्षिणा करे ॥ ४१ ॥

पादप्रसारणममुष्य जगत्त्रयाधि-
नाथस्य नो समुचितं पुरतः कदापि ।
पर्यङ्कबन्धनमथास्ति निबन्धनाय,
स्वस्यैव भव्यजनमण्डल तत्पुरस्तात् ॥४२॥

भगवान्‌के संमुख कभी भी पग फैलाकर बैठना उचित नहीं। क्योंकि इससे बन्धन प्राप्त होता है ॥ ४२ ॥

स्वापं च जग्धिमथताररवेण वादं,
मिथ्योक्तिरोदनमिथोवदनाहवादीन् ।
क्रूराभिभाषणमनुग्रहनिग्रहौ च,
मा मा समाचरतु कोऽपि हरेः समक्षम् ॥४३॥

भगवान्‌के समक्ष सोना, भोजन, उच्चस्वरसे बोलना, मिथ्याभाषण, रोना, परस्परवार्तालाप, युद्धादि, कठोरभाषण, अनुग्रह और दण्ड यह सब कार्य किसीको नहीं करने चाहिये ॥ ४३ ॥

आवृत्य देहमभितोऽसितकम्बलेन,
गच्छेत्कदापि नहि कोपि हरेः पुरस्तात ।
आत्मस्तुतिं च परदूषणभाषणादि,
मा संविधात् क्वचिदधोनिलमोक्षणं वा ॥४४॥

भगवान्‌के संमुख कालाकम्बलादि धारण, आत्मस्तुति, परनिन्दा और पर्दन भी नहीं करना चाहिये ॥ ४४ ॥

अश्लीलवाचमनिवेदितभोजनानि,
गौणोपचारमथ देवपदेषु रुन्ध्यात् ।
विष्णौ च सामयिकपुष्पफलाद्यदित्सा,
तन्यान्न कोपि परमार्थरुचिर्जनोऽत्र ॥४५॥

भगवान्‌के संमुख अश्लीलभाषण न करे। भगवान्‌को निवेदन किये बिना भोजन नहीं करे। पाषण्डपूर्ण भक्ति न करे। सामयिकपुष्प और फल आदिके देनेकी कभी अनिच्छा न करे॥ ४५॥

आस्वाद्य वस्तुनिचयः प्रथमं स्वयं यैः,
पश्चात्प्रभोश्चरणपङ्करुहेऽर्पितः स्यात्।
ते कोटिकुष्ठिकृमिसंकुलनारकेषु
सम्पात्य दुःखविपिने निहिता भवन्ति ॥४६॥

जो पुरुष किसी वस्तुका प्रथम स्वयं भोगकरके पश्चात् बचे हुए वस्तुको भगवान्‌को अर्पण करते हैं वह करोड़ों कोढ़ियों और कीड़ों से पूर्ण नरककुण्डमें डाले जाकर कष्टमय योनिमें फेंक दिये जाते हैं ॥४६॥

देवाधिदेवपुरतो भ्रमतोऽपि पृष्ठं,
कृत्वोपवेशनमशस्तमिति ब्रुवाणाम्।
शास्त्रीयवैधवचनं हि तिरस्करोति,
यः सोऽपि नैरयगतिं विवशः प्रयाति ॥४७॥

भगवान्‌के आगे भ्रमसे भी जो पीठ करके बैठता है वह भी विवश होकर नरकगतिको पाता है॥ ४७॥

आगच्छतो गुरुजनान् गुरुमन्तरेण
विष्णोः पुरो नहि नमेद्धरिवल्लभाग्र्यः।
शास्त्रं विचार्य हृदयेन च तद्विरुद्धं,
यो नाचरेत्स परमं पदमभ्युपैति ॥४८॥

भगवत्समक्ष गुरुके अतिरिक्त किसीको नमस्कार न करे। शास्त्रको विचारकर जो विरुद्ध आचरण नहीं करता है वह परमपदको प्राप्त होता है॥ ४८॥

गाङ्गेयमित्यथ च राजतमित्यथापि,
ताम्रं च कांस्यमथ शस्त्रकनिर्मितं वा ।
षट्कोणकं च वलयत्रयसम्परीतं,
तद्द्वादशारमनिशं बिभृयाद्धि चक्रम् ॥ ४९ ॥

सोनेके अथवा चांदीके अथवा कांसके अथवा लोहेके बने हुए षट्कोणवाले, तीन वलयवाले, द्वादश अरावाले सुन्दरचक्रको तप्तकरके दक्षिणभुजके मूलमें धारण करना चाहिये । (वाम भुजके मूलमें शंख धारण करे यह भी समझ लेना चाहिये) ॥ ४९ ॥

चक्रं च वैष्णवमिदं दमुनोविदग्धं,
यो लीलयापि दधते निजबाहुमूले ।
त्यक्त्वा परेतपतिभीतिभरानितस्ते
निश्चप्रचं समवयन्ति विभीकलोकम् ॥ ५० ॥

अग्निमें तपे हुए चक्रको लीला से भी जो कोई अपने भुजके मूलमें धारण करता है वह यमराजके भयको छोड़कर निस्सन्दिग्ध निर्भयलोकको प्राप्त कर लेता है ॥ ५० ॥

ये बिभ्रते धनुरजिह्मगयुग्ममात्म-
बाह्वोर्विदग्धदुरिता भवभीविमुक्ताः ।
तान्बाधते नहि कदाचन कापि बाधा,
तेऽन्ते प्रयान्ति रघुनाथविमृत्युलोकम् ॥५१॥

तप्त धनुष् और बाणको भी अपने भुज पर धारण करनेवाले सब पाप और बाधाओंसे छूटकर अन्त में प्रभुको प्राप्त करते हैं ॥ ५१ ॥

यः श्वेतमृन्निचयतो विरचय्य पार्श्वौ,
भागौ च मूर्धनि हरेश्चरणानुकारौ ।

हारिद्रचूर्णरचितं पृथिवीतनूजा-
स्थानं तनोति ललितं लघु पार्श्वमध्ये ॥५२॥
तं न स्पृशन्ति कलिदोषकलाः कदाचि-
न्नो वा यमो न नियमो यमयातनायाः ।
यस्तं च पश्यति महाघकृदप्यकस्मा-
त्सोऽपि प्रयाति हरिलोकमनन्यधन्यः ॥५३॥

ऊर्ध्वपुण्ड्र करनेवालेको कभी न तो कलिकालके दोष स्पर्श करते हैं न यमराज स्पर्श करते हैं और न तो नरककी यातना उसे पीड़ा देती है। कोई महापापी भी यदि उस ऊर्ध्वपुण्ड्रधारी वैष्णवका दर्शन कर ले तो वह परमपदको पा लेता है ॥ ५२–५३ ॥

यस्यास्ति नाम भगवत्परकं पवित्रं,
धन्यः स देवमहितः प्रथितः पृथिव्याम् ।
नामानुसारिरमणीयगुणावतार,
स्वस्मिन्दधज्जगति धन्यतमो भवेत्सः ॥५४॥

जिसका भगवत्सम्बन्धी नाम है वह देवोंका भी पूज्य, प्रख्यात पुरुष पृथ्वीपर धन्य है। तथा नामके अनुसार ही जिसमें उत्तम गुण होते हैं वह धन्यतम होता है ॥ ५४ ॥

शान्तेन्द्रियं गुरुवरं विदुषां वरिष्ठं,
भक्तं विरक्तमुपसद्य च सच्चरित्रम् ।
श्रीराममन्त्रमुपगृह्य रहस्ययुक्तं,
श्रद्धाधनस्त्रिजगतीं सततं पुनाति ॥ ५५ ॥

जितेन्द्रिय, विद्वानोंमें श्रेष्ठ, सच्चरित्र, भगवद्भक्त तथा विरक्त गुरुके समीप जाकर रहस्ययुक्त श्रीराममन्त्रका उपदेश लेकर श्रद्धालु हरिजन तीनों लोकोंको पवित्र करता है ॥ ५५ ॥

ये लम्पटा विषयभोगनिमग्नचित्ता,
विश्वप्रतारणपराः कुधियो विमूढाः ।
विद्यासुरत्नलसिता अपि पापचारा,
ग्राह्या न तेऽतिविपदागमनेऽपि कैश्चित् ॥५६॥

जो दुष्टबुद्धिवाले, महामूर्ख, लम्पट हों, रात्रिदिवस विषयभोगकी ही चिन्तामें तल्लीन हों, संसारको ठगनेकी ही धुनमें हों, ऐसे पापी चाहे कितने बड़े भी विद्वान् क्यों न हों, विपत्तिमें भी उनका ग्रहण नहीं करना चाहिये ॥ ५६ ॥

एतादृशस्य सुगुरोरधिगत्यभावे,
श्रीरामनामजपनं भवने वने वा ।
स्याच्छ्रेयसेऽसदुपसत्तिरियं परन्तु,
कल्याणिनी भवति नैव कदापि नृणाम् ॥५७॥

यदि सदाचारी, गुरु न मिले तो घरमें ही अथवा जंगलादि एकान्त-स्थानमें बैठकर श्रीरामनामका जप करना चाहिये । इससे ही कल्याण हो जायगा; परन्तु असद्गुरु अच्छा नहीं है ॥ ५७ ॥

साकेतनाथरघुनाथपदारविन्द-
ध्यानेन धूतनिखिलोल्बणकिल्बिषो यः ।
तद्विग्रहार्चनमहर्दिवमातनोति,
संसारसागरमिमं स तरत्यवश्यम् ॥५८॥

जो पुरुष श्रीरामजीके चरणकमलके ध्यानसे, पापोंको नष्ट कर चुका है, तथा सर्वदा भगवान्के ही विग्रहका अर्चन करता है वह इस बड़े अगाध संसारसागरको तर जाता है ॥ ५८ ॥

संसारपाथोधिमपारमिद्ध-
कामादिदुर्धर्षणसत्त्वजालम् ।

य: स्यात्तितीर्षुः स हि निर्मिमीतां-
श्रीरामनामप्लवमञ्जसैव ॥५९॥

जिसका पार नहीं है, जिसमें प्रबलकामादिरूप महाभयंकर बीव पड़े हैं, ऐसे संसारसागरको पार करनेकी इच्छावालोंको चाहिये कि श्रीरामजीके नामको ही नौका बनावें ॥ ५९ ॥

भये च दुःखे विजने जने वा
पुत्रे कलत्रे भवने वने वा ।
सुखाय योऽत्र स्पृहयेदजस्रं
स रामनामस्मरणं करोतु ॥६०॥

जो पुरुष भयमें, दुःखमें, शत्रुओंमें, स्वजनोंमें, पुत्रमें, कलत्रमें, घरमें, वनमें सुखकी इच्छा करता हो उसे चाहिये कि श्रीरामनामका स्मरण करे ॥ ६० ॥

यस्मिन्महापत्तिमहासमुद्रे
ब्रुडन्तमालोक्य जहत्यनन्ते ।
मित्राण्यपि त्राणमिदं करोति
श्रीरामनामात इदं भजध्वम् ॥६१॥

जिस विपत्तिरूपसागरमें डूबते हुए देखकर मित्र भी छोड़ देते हैं वहाँ भी यही रक्षा करता है । अतः इस श्रीरामनामको ही भजो ॥ ६१ ॥

निरीक्ष्य वः क्लेशलवं कदाचि-
दनल्पकल्पान्तदवाग्निदग्धः ।
शान्त्यै प्रयत्नं तनुते महान्तं
निरस्तसाम्यो विपदेकबन्धुः ॥६२॥

तुम्हारे अत्यन्त अल्पदुःखको भी देखकर अतिदुःखित होकर, तुम्हारे सुखकेलिये यत्न करतेहुए वह आपत्ति-बन्धु किसीकि समता नहीं रखते ॥ ६२ ॥

एतादृशं बन्धुजनं जनौघाः
कदापि मा मा परिभूत यूयम् ।
सेव्यः सतामस्ति तथापि तेषां
कैङ्कर्यमाधातुमयं समुत्कः ॥६३॥

हे मनुष्यो! ऐसे बन्धुजनका तुम लोग कभी भी तिरस्कार मत करो। भगवान् सत्पुरुषोंका सेव्य है तथापि कृपावश होकर सत्पुरुषोंको सेवा करनेकेलिये अत्यन्त उत्सुक रहता है ॥ ६३ ॥

इत्येवं यतिराज आगतजनानादिश्य विमलं
धर्मं धर्मधुरीण ऐन्दवकलास्पर्द्धोद्धकृतिमान् ।
दत्वाशीर्वचनं समस्तवसुधाकल्याणमनिशं,
वाञ्छन्नेव समापयत्किल सभामुत्फुल्लवदनः ॥६४॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामिश्रीभगवदाचार्य्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये द्वादशः सर्गः ।

श्रीमान् यतिराजने आये हुए लोगोंको इस प्रकारसे निर्मल उपदेश देकर, सबको आशीर्वाद देकर, सबका कल्याण चाहते हुए सभा समाप्त कर दी ॥ ६४ ॥

इतिश्रीसारस्वतसार्वभौम-पण्डितराज-परमहंसपरिव्राजकस्वामि-श्रीभगवदाचार्य-विरचिते श्रीमद्रामानन्ददिग्विजये स्वोपज्ञवैजयन्त्याख्यव्याख्यायां द्वादशः सर्गः ।